प्रकाशक :
आदर्श-साहित्य-संघ
सरदारशहर (राजस्थान)

दीपावली, वीरनिर्वाण संवत् २४७७
प्रथमावृत्ति १५००
मूल्य ३)

मुद्रक :
मदनकुमार मेहता
रेफिल आर्ट प्रेस
( आदर्श-साहित्य-सघ द्वारा संचालित )
३१, बड़तल्ला स्ट्रीट
कलकत्ता ।

# प्रकाशकीय

चिरकालसे समाज जिस महान् ग्रन्थ की प्रतीक्षा मे था, उसको प्रकाशित करते हुए आज हम अत्यन्त हर्ष अनुभव कर रहे हैं। यद्यपि यह एक वर्ष पूर्व ही पाठकोके कर-कमलो में पहुंच जाता परन्तु कुछ कठिनाइयो के कारण हम समय पर निकालने में असफल रहे।

प्रस्तुत ग्रन्थ जैन साहित्य की एक अमूल्य निधि है। टीकाकारने विस्तृत विवेचन के साथ सामयिक प्रश्नोको भी छूआ है तथा उसमे प्राण भर दिये है।

प्रतिक्रमणके महत्वके विषयमें यहां कुछ लिखना अनुपयुक्त होगा। क्योकि सम्पूर्ण ग्रन्थ इसकी विस्तृत व्याख्या ही है। फिर भी प्रतिक्रमण जीवन-विकास का सूचक है। यह पथ-भ्रष्ट मनुष्यको दीपस्तम्भके सदृश ज्ञानालोक द्वारा सत्यपथ प्रदर्शित करता है तथा पूर्वकृत पापो की आलोचना करा, जीवन को निर्मल बनाता है।

इस वृहत् ग्रन्थ के टीकाकार मुनिश्री नथमलजी से सारा समाज परिचित है। अपने अगाध पाण्डित्य तथा गभीर अध्ययनके द्वारा लघु वयमें ही अच्छी ख्याति प्राप्त की है। प्रस्तुत ग्रन्थके सकलन में श्री टीकमचन्दजी डागा ने अत्यन्त श्रम किया है अतः आदर्श साहित्य सघ की ओरसे वे धन्यवाद के पात्र है।

यदि पाठकोने इससे लाभ उठाया तथा इसके द्वारा अपने जीवन को श्रेय पथ की ओर ले जाने का प्रयत्न किया तो हम अपने श्रम को सफल समझेंगे।

भवदीय :

**साहित्य-मंत्री**

आदर्श-साहित्य-संघ



श्रावक प्रतिक्रमण आ त्म द र्श न मा ला का तृतीय पुष्प है। जिसका उद्देश्य विशुद्ध तत्त्व-ज्ञान के साथ भारतीय और जैन-दर्शन का प्रचार करना है, जिसके सुश्रृंखलित प्रकाशन मे चुरू (राजस्थान) के अनन्य साहित्य-प्रेमी श्री हनूतमलजी सुराणा ने अपने स्व० पिता श्री मन्नालालजी की पुनीत स्मृतिमे नैतिक सहयोग के साथ आर्थिक योग देकर अपनी सास्कृतिक व साहित्य-सुरुचि का परिचय दिया है, जो सबके लिए अनुकरणीय है। हम आदर्श-साहित्य-सघ की ओर से सादर आभार प्रकट करते है।

—प्रकाशन मंत्री



शुक्तौ गतो मौक्तिकमम्बुबिन्दुर्मूल्यार्हमाकांक्षितमङ्गभृद्भिः।
अम्भोद! किं विस्मयनीयमत्र स्वातेरगम्यो महिमा न बुद्धः ॥१॥
यदर्धमात्रोपयुता हि वर्णाः पूर्णत्वमायान्ति विना प्रयासम्।
सोऽन्तःस्थितानामुचितस्वराणां चित्रो विधिः केऽप्यभिलक्षणीयः।२
मत्सन्निभस्तुच्छमतिर्मनुष्यआवश्यकं यद् विवृणोत्यनिद्रः।
सोऽयं प्रभावस्तुलसी प्रभूणामादेशवर्ती सकलोऽधिगम्यः ॥३॥

शुक्ति मुह में गिरा सलिल-बिन्दु मौक्तिक बन जाता।
क्या आश्चर्य? ओ जलधर! इसमे, है अगम्य स्वाति की महिमा ॥
आधी मात्रावाले व्यञ्जन, पूर्ण सहज बन जाते।
वह अन्त स्थित स्वर की महिमा, है उससे अनभिज्ञ कौन जन ॥
तुच्छबुद्धि मुझ जैसा मानव, आवश्यक की टीका करता।
क्या मेरा उसमे विनियोजन, है आदेश सकल तुलसी का ॥

# प्राक्कथन



आत्म-चिन्तन अध्यात्मवाद का प्रमुख अङ्ग है। उच्च श्रेणीवाली आत्माएँ निरन्तर सावधान रहती हैं। उनके लिए आत्म-चिन्तन कोई पृथक् तत्त्व नहीं, पर साधारण मनुष्य साधना की प्रारम्भिक दशा में उस दशा को नहीं पा सकते। उन पर प्रमाद की एक गहरी छाप रहती है। उसके द्वारा वह चलते चलते स्खलित हो जाते है। अतएव उनको अपनी स्थिति पर वापिस लौट आने के लिए आत्म-चिन्तन करना नितान्त आवश्यक रहता है।

आत्म-चिन्तन का अर्थ केवल ध्यान धरना ही नहीं, उसका अर्थ है आचरण और मर्यादाओं का अवलोकन करना, आचार की भूल को सुधारने के लिये प्रायश्चित्त करना। उसके लिये संध्याकाल सबसे उचित है। दिन की भूल को देखने के लिए सूर्यास्त के बाद का समय और रात की त्रुटियों को देखने के लिए सूर्योदय का पहला समय (प्रातः, संध्या) निर्धारित किया हुआ है। यह कालमान परम्परा के अनुसार एक एक मुहूर्त का है।

आत्म-चिन्तन का समय

आत्म-चिन्तन और आवश्यक

जो काम अवश्य किया जाए उसका नाम आवश्यक है। आवश्यक क्रिया प्रत्येक व्यक्ति के लिए, प्रत्येक दृष्टिकोण से भिन्न होती है। एक ही वस्तु हरएक के लिये हरएक दशा में आवश्यक नहीं होती। आत्म-साधक के लिये अपनी त्रुटियों को देखना एवं उनके संशोधन के लिये कुछ-न-कुछ क्रिया करना आवश्यक है। अतएव इस आत्म-चिन्तन का नाम आवश्यक है। प्रस्तुत शास्त्र उस आवश्यक क्रिया का साधन है अतएव इसका नाम भी "आवश्यक सूत्र" है।

आवश्यक और प्रतिक्रमण

प्रतिक्रमण शब्द का अर्थ है वापिस लौट आना। प्रमाद-वश आत्मा निजी स्थान से शुभ योग से विचलित होकर पर-स्थान में—अशुभयोग में चली जाती है, उस आत्मा को फिर शुभयोग में स्थापित करने वाली आवश्यक क्रिया का नाम प्रति-क्रमण है। अतएव आवश्यक का दूसरा नाम प्रतिक्रमण भी है। प्रतिक्रमण की सीधे शब्दों में, अपनी भूलों को देखना और उनका प्रायश्चित्त करना यही उपयुक्त परिभाषा हो सकती है।

श्रावक-प्रतिक्रमण।

साधक दो श्रेणी के होते हैं—गृहस्थ-श्रावक और मुनि। सावद्य प्रवृत्ति को यथाशक्ति त्यागने वाले श्रावक कहलाते हैं और पूर्ण रूप से त्यागने वाले मुनि। मुनियों के आवश्यक में सब प्रकार की सावद्य वृत्तियों से लगनेवाले दोषों का चिन्तन किया जाता है और श्रावक के आवश्यक में त्यागी हुई सावद्य वृत्तियों से लगने वाले दोषों का प्रायश्चित्त करना होता है। प्रस्तुत शास्त्र मे श्रावक के आवश्यक आत्म-चिन्तन का विधान किया है इसीलिये इसका नाम श्रावक-प्रतिक्रमण है।

आवश्यक के विभाग छः हैं :— आवश्यक के विभाग

(१) सामायिक

(२) चतुर्विंशतिस्तव

(३) वन्दन

(४) प्रतिक्रमण

(५) कायोत्सर्ग

(६) प्रत्याख्यान

*सामायिक* :—राग-द्वेष रहित आचरण का नाम सामायिक है, अथवा राग-द्वेष रहित वृत्ति का, समता का, सावद्य-प्रवृत्तियों को त्यागने का नाम सामायिक है। सामायिक के दो भेद है—देश विरति और सर्वविरति। शक्ति के अनुसार जो सावद्यवृत्ति त्यागी जाती है, वह देशविरति सामायिक है। सावद्यवृत्ति का सर्वथा त्याग करना—सर्वविरति सामायिक है। देशविरति का अधिकारी श्रावक होता है और सर्वविरति का मुनि।

*चतुर्विंशतिस्तव* :—भगवान् आदिनाथ से लेकर भगवान् महावीर तक के चौवीस तीर्थङ्करों की स्तुति करना।

*वन्दन* :—गुरु को वन्दन-नमस्कार करना।

*प्रतिक्रमण* :—अतिचारों की शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त करना। "तस्स मिच्छामि दुक्कडं" वह पाप मेरे लिए निष्फल हो, इस प्रकार चिन्तन करना।

*कायोत्सर्ग* :—शरीर को स्थिर कर, मौन रहकर ध्यान करना।

*प्रत्याख्यान* :—आगामी पापकारी प्रवृत्तियों को रोकने के लिये प्रत्याख्यान करना, आत्म-संयम करना।

क्रम सार्थकता

सबसे पहले समता का पालन करना जरूरी है। समता को अपनाए बिना सद्गुणों से प्रेम और अवगुणों से ग्लानि नहीं हो सकती। राग और द्वेष ये दोनों विषमता और पक्षपात के पिता हैं। मोह में फँसा रहने वाला मनुष्य एक से स्नेह और एक से द्वेष कर सकता है, पर उनके गुण दोष की परख या विश्लेषण नहीं। जबतक अपनेपन एवं दूसरेपन का पर्दा आंखों से नहीं हटता अर्थात् जबतक अस्थायी या दैहिक सम्बन्धों को नहीं भुलाया जाता, तबतक आत्मिक गुणों के प्रति मनुष्य श्रद्धा नहीं रख सकता अथवा गुणों की पूजा करना नहीं सीख सकता। इसीलिए शास्त्रकारों ने सामायिक को सबसे पहला स्थान दिया है। समता को ही आध्यात्मिक उन्नति का प्रथम सोपान कहा है। समता को अपनानेवाला पुरुष गुणी पुरुषों के गुणों को आदर की दृष्टि से निहार सकता है--गा सकता है—उन्हें अपने जीवन में उतार सकता है। इसीलिए सामायिकके बाद चौवीस तीर्थंकरों को स्तुति करने का विधान किया गया है। गुण का महत्त्व समझ लेने के बाद ही मनुष्य गुणी के सामने सिर झुकाता है— गुरुजनों को वन्दना करता है। जबतक गुणों की वास्तविकता को न कूत लिया जाय तबतक मन सरल नहीं होता। और मन के सरल हुए बिना श्रद्धापूर्वक नमस्कार नहीं हो सकता। इसीलिए चतुर्विंशतिस्तवके बाद 'वंदन' को स्थान मिला है। जिसका मन, वाणी और शरीर विनम्र हो जाता है, वह अनाचार का सेवन करना नहीं चाहता, प्रमाद के कारण यदि कोई दोष लग भी जाए तो वह उसे दबाने की कोशिश न कर अपना पापकर्म धो डालने के लिए अपनी भूलों का प्रायश्चित्त करना ही चाहता है। अतएव

वन्दन के बाद प्रतिक्रमण का स्थान नियत किया गया है। भूलों को याद करनेके लिए एवं उनसे छुटकारा पाने के लिए कायोत्सर्ग करना अर्थात् शरीर को स्थिर रखना अत्यन्त जरूरी है। शरीर की स्थिरता मन की स्थिरता का श्रेष्ठतम साधन है। इसीलिए प्रतिक्रमण के बाद कायोत्सर्ग का उल्लेख हुआ है। स्थिर वृत्ति का अभ्यास करने वाला मनुष्य ही आत्मिक संयम को अपना सकता हैं। जिसका मन डाँवाडोल होता है, जो शरीर पर काबू नहीं पा लेता है, वह प्रत्याख्यान नहीं कर सकता यानी आगामी दोषों से बचने के लिए दृढ संकल्प नहीं कर सकता। इसी कारण से प्रत्याख्यान को कायोत्सर्ग के बाद में रक्खा है।

आवश्यक का फलितार्थ

इनका फलितार्थ यह है कि सामायिक आत्म-शोधनका प्राण-भूत तत्त्व है। गुणी एवं संयमी पुरुषों के स्तवन और वन्दन हमारी साधना के आदर्श एवं हमें लक्ष्य की ओर अग्रसर करने वाले हैं। प्रतिक्रमण साधक को अपनी भूल से बिसरी हुई साधना की स्थिति में फिरसे लौट आने का उपाय है। कायोत्सर्ग प्रायश्चित्त करने में सहारा देने वाला हैं। भविष्यमें वैसी ही सदाचार एवं सद्भावना की स्थिति को कायम रखने के लिये प्रत्याख्यान है। और इन सब का एकीकरण आत्मशोधन का एक अमोघ मन्त्र है।

आवश्यक और पुनरुक्ति

कई लोगों को प्रतिक्रमण के विषय में यह सन्देह रहता है कि इसके प्रत्येक अङ्ग में पुनरुक्तियां भरी पड़ी हैं। एक २ पाटी की पुनरावृत्ति होती ही रहती है। अब इसमें संशोधन की आवश्यकता है और गुञ्जाइश भी। पुनरुक्तियों को हटा देने से यह और भी अधिक उपयोगी एवं सुव्यवस्थित बन जाएगा। पर

यह शङ्का वस्तुस्थिति को न समझने का परिणाम है। पुनरुक्ति सब जगह दोष नहीं है। पुनरुक्तिदोष साहित्य के चुने हुए क्षेत्रों मे ही माना गया है। हम निम्न पंक्तियों में जो एक श्लोक उद्धृत कर रहे हैं, उसमें यह साफ २ कहा है कि अमुक २ स्थलों में पुनरुक्ति दोष नहीं माना जाता, प्रत्युत वह उनका गुण है:—

"अनुवादादरवीप्सा, भृशार्थविनियोगहेत्वसूयासु ।
ईषत्सम्भ्रमविस्मय, गणनस्मरणे न पुनरुक्तम् ॥

प्रतिक्रमण स्मरण है—आत्म-चिन्तन है। उसमें यदि एक ही पाठ अनेक बार आये तो भी वह पुनरुक्त दोष नहीं हो सकता। और दूसरी बात यह है कि जो एक बार आया हुआ पाठ दूसरी बार फिर आता है, वह सम्बन्ध के बिना ही नहीं; किन्तु किसी खास उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही आता है। साधारण बातों पर भी हम निगाह डालें तो यह शङ्का दूर हो जाती है। जैसे हम नमस्कार मन्त्र की माला जपते है। उसमें क्या होता है। एक ही मन्त्र दो चार बार ही नहीं, एकसौ आठ बार बोला जाता है। पर वह दोष नहीं, आत्म-चिन्तन, स्मरण, ध्यान का यही मार्ग है।

प्रतिक्रमण का कालमान

प्रतिक्रमण करने का समय एक मुहूर्त का निश्चित है। यह तो पहले ही बताया जा चुका है, अब हमें यह निष्कर्ष निकालना है कि यह क्यों? आगम-सूत्रों में प्रतिक्रमण का काल-मान कितना होना चाहिये, इसकी कोई चर्चा नहीं मिलती। आगम के उत्तरवर्ती ग्रन्थों में इसका काल-मान एक मुहूर्त का मिलता है और यह शास्त्रीय दृष्टिकोणों से उचित भी है। शास्त्रों में

छद्मस्थ-पुरुष की एकाग्रता की स्थिति अन्तर्मुहूर्त की बतलाई है। अन्तर्मुहूर्त के बाद उसमें कुछ न कुछ अन्तर आ जाता है।

प्रतिक्रमण करने वाला एक सरीखी एकाग्रता से अपने दोषों की आलोचना करे, अतएव यह समय-परिमाण स्थापित किया गया है। कई कई आचार्यों ने यह सिद्धान्त रूप से स्वीकार किया है कि आगम में जिन का मान-काल न मिले, उन सबकी अवधि अन्तर्मुहूर्त की समझनी चाहिये। जैसे नमस्कारसहिता ( नवकारसी ) एवं सामायिक की काल-मर्यादा आगम में वर्णित नहीं है तो भी इनका परिमाण अन्तर्मुहूर्त माना जाता है। श्रीमज्जयाचार्य ने आगम के सूक्ष्म रहस्यान्वेषण द्वारा ही उक्त काल-व्यवस्था प्रमाणित की है। वह यों है। उत्तराध्ययन के २६ वें अध्ययन में साधु-समाचारी का वर्णन करते हुए बतलाया गया है कि साधु दिन के अन्त में प्रतिक्रमण करे और उसके बाद स्वाध्याय करने के लिए ( कालं तु पडिलेहए ) काल प्रतिलेखन करे—स्वाध्याय के उपयुक्त समय की जांच करे। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रतिक्रमण का समय सूर्यास्त से विकाल वेला तक का है। विकाल वेला में अस्वाध्यायी रहती है। विकाल-अस्वाध्यायी का समय एक मुहूर्त का है। उसके बाद प्रतिक्रमण करने के बाद स्वाध्याय करने का विधान है, अतः प्रतिक्रमण-कालमान एक मुहूर्त का स्वयं सिद्ध हो जाता है।

प्रतिक्रमण और भाषा

आवश्यक की भाषा के विषय में भी बहुत से लोग कहा करते हैं कि आज भी हमारे संध्यासूत्र की वही भाषा है जिसका युग कई शताब्दियोंके पूर्व ही बीत चुका है। आज तो हमारा पाठमन्त्र हमारी मातृभाषा में ही होना चाहिये ; जिससे हम

उसके तथ्य को समझ सकें। इस विषय में इतना ही कहना काफी होगा कि जो विचार जिस भाषा के, जिन शब्दों में प्रकट होते हैं, उनमें जो मौलिकता होती है, वह उनके अनुवाद में नहीं रह सकती। इसीलिये इसका मूल पाठ तो ज्यों का त्यों सुरक्षित रक्खा जाता है और उसका अर्थ समझने के लिए मातृभाषा में शब्दार्थ और भावार्थ है ही। जैसे "तस्सुत्तरी" का पाठ पहले आवश्यक में भी आता है और पाँचवें में भी। इस पाठ का दोनों जगह आना जरूरी है, क्योंकि दोनों आवश्यकों में कायोत्सर्ग किया जाता है और तस्सुत्तरी का पाठ कायोत्सर्ग की प्रतिज्ञा कराने वाला है। अतएव जितनी वार कायोत्सर्ग किया जाय उतनी वार ही इसका आना जरूरी है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि "खमासमणा" का पाठ दो बार क्यों बोला जाता है? अधिक बार क्यों नहीं? क्योंकि वह तो गुरु-वन्दन है, अतः दो बार की तरह चार बार बोला जाय तो क्या आपत्ति है? ऐसी शङ्काओं के बारे में हमें यह समझना चाहिये कि प्रतिक्रमणका काल-मान एक मुहूर्त्त का नियत है। उसको ध्यान में रखकर ही इसकी यह व्यवस्था हुई है।

प्रतिक्रमण का अधिकारी कौन?

आवश्यक किस के लिए उपयोगी है और किसे करना चाहिए। इस पर भी सब एक मत नहीं हैं। कई लोगों का विचार है कि प्रतिक्रमण उन्हें ही करना चाहिए जिनके बारह व्रत धारण किये हुए हों। जिनके व्रत धारण किये हुए नहीं होते हैं, उनके लिए भला प्रतिक्रमण की क्या आवश्यकता? प्रायश्चित्त त्याग के भङ्ग से उपजे दोषों की शुद्धि के लिए है। त्याग ही नहीं तो क्या तो दोष और क्या उनका प्रायश्चित्त? पर उनका

यह दृष्टिकोण ठीक नहीं। चाहे व्रत स्वीकार किये हों चाहे न किये हों, प्रतिक्रमण करना तो अच्छा ही है। व्रत में कोई स्खलना हो गई हो तो उसकी शुद्धि हो जाती है और जो ऐसे ही करता है, उससे भी कम से कम आत्म निरीक्षण का मौका तो मिलता है। मन और वाणी की शुद्ध प्रवृत्ति होती है। स्वाध्याय और कायोत्सर्ग होता है। त्याग के प्रति रुचि पैदा होती है। अतएव प्राचीन आचार्यों ने लिखा है—

प्रतिक्रमणप्येव, सतिदोषे प्रमादत ।
तृतीयौपधकल्पत्वाद्, द्विमध्यमथवाऽसति ॥

अर्थात्:—औषधि तीन तरह की होती है—एक औषधि रोग में ली गई लाभ पहुंचाती है और रोग के बिना हानि। दूसरी श्रेणी की दवा रोग मे लाभ करती है और रोग के बिना न तो लाभ करती है और न हानि। तीसरी श्रणी की औषधि वह है, जो रोग मे फायदा करती है और उसके बिना भी शरीर को स्वस्थ, पुष्ट और तेजस्वी बनाती है। प्रतिक्रमण ठीक इस तीसरी श्रेणी की दवा के समान है। यदि अतिचार लगने पर किया जाय तो उससे अतिचार की शुद्धि हो जाती है, और यदि अतिचार के बिना किया जाय तो भी उससे शुद्ध प्रवृत्ति होती है, आत्म-उत्थान होता है। इसलिए प्रतिक्रमण प्रत्येक स्थिति मे लाभकारक है और व्रत मे हुए छिद्रों को रौंधने का उद्देश्य तो मुख्य है ही। उत्तराध्ययन के २८ वें अध्ययन में स्पष्ट कहा गया है—

"पडिक्कमणेण वयछिद्दाइ पिहेइ।"

व्रती पुरुष प्रतिक्रमण के द्वारा व्रत के छिद्रों को रौंधते है अर्थात् त्याग में जो कोई त्रुटि होती है, वह आलोचना से सुधारी जा

सकती है। इत्यादि अनेक हेतुओं से प्रतिक्रमण का सर्वतोमुखी महत्त्व जाना जाता है।

प्रतिक्रमण क्यों ?

प्रतिक्रमण क्यों करना चाहिये, यह कोई गूढ़ बात नहीं, तो भी इसके सम्बन्ध में थोड़ासा लिखना जरूरी है। आदमी स्नान क्यों करता है? शरीर को साफ एवं स्वस्थ रखने के लिये। प्रतिक्रमण भी मानसिक अवस्था को स्वच्छ एवं स्वस्थ रखने के लिये आत्म-स्नान है। जिसका मन मलिन और दुर्बल होता है वह नैतिक जीवन की भूमिका से गिर जाता है। मन अपने दोषों से ही मैला बनता है। आपसी विरोध, एक दूसरे की निन्दा, एक दूसरे के प्रति ईर्ष्या, आक्षेप आदि ऐसे बड़े २ दोष हैं, जो मन को साफ सुथरा नहीं रहने देते। उसका काम ज्यों त्यों उसमें विकार पैदा करना ही है। इन दोषों से छुटकारा पाने के लिये प्रतिक्रमण एक सफल साधन—सहायक है। प्रतिक्रमण की प्रथम प्रतिज्ञा में अतिचारों—दोषों की आलोचना करने का दृढ़ संकल्प होता है। उसी लक्ष्य के अनुसार प्रतिक्रमण में मुख्यता दो बातें होती हैं—अपने दोषों को देखना, और उनका प्रायश्चित्त करना। समूचा प्रतिक्रमण मैत्री की भावना से ओतप्रोत है। प्राणिमात्र के प्रति सद्भावना एवं सहृदयता का वर्ताव करने की कुञ्जी है।

प्रतिक्रमण और भाव

हरएक काम में सावधानी की अपेक्षा रहती है। प्रतिक्रमण के लिये भी वह जरूरी है सावधानी का पहला कारण तो यह है कि हम जो करना चाहें, उससे पहले उसकी असलियत को समझें। प्रतिक्रमण करने से पूर्व ही उसके उद्देश्य को सामने रख लेना चाहिए और उद्देश्य को अटल रखते हुए आखिरी पंक्तियों

तक चला जाना चाहिये। जब लक्ष्य में शिथिलता आ जाती है तब मन इधर उधर दौड़ने लग जाता है, मन की अस्थिरता से आवश्यक क्रिया भावरूप न रह कर द्रव्यरूप हो जाती है अर्थात् वास्तविकता से व्यावहारिकता में चली जाती है। इसीलिए प्रतिक्रमण करनेवाले को उसके प्रत्येक शब्द के अर्थ को हृदयंगम कर लेना चाहिये और प्रतिक्रमण करते समय ध्यान को स्थिर रखना चाहिये।

प्रतिक्रमण और हिन्दी विवेचन

प्रतिक्रमण की संस्कृत टीकाएं बड़ी २ लिखी हुई पड़ी हैं। पर वह प्रत्यक्ष रूप से आज के युग की मांग को पूरा नहीं कर सकतीं। कारण कि संस्कृत पढ़नेवाले आज बहुत कम हैं। इसीलिये साधारण लोग उसकी अमूल्य विचारनिधि से कोई लाभ नहीं उठा सकते। इसी कारण से प्रतिक्रमण के मुख्य २ पहलुओं को चालू भाषा मे समझाने की आवश्यकता हुई। और यह प्रस्तुत विवेचन उसका ही परिणाम है। इसकी एक टीका तो मारवाड़ी में आचार्यश्री के आदेशानुसार स्वामी गणेशमलजी ने इससे पहले ही बना ली थी। जिससे इसके लिखने में बहुत सहायता मिली है। अन्यान्य प्रान्तवासियों को मारवाड़ी समझने मे कठिनाई होती है। इसी उद्देश्य को सामने रखकर आचार्यश्री ने इसकी हिन्दी टीका लिखने का आदेश देने की कृपा की—उसेही मैं कार्यरूप मे परिणत कर सका हूं।

प्रतिक्रमण आचार की कुंजी है

मानव जीवन के मुख्य दो पहलू है। एक तो आचार और दूसरा विचार। विचारशास्त्र के द्वारा मनुष्य गंतव्य पथ का निश्चय करते है और आचारशास्त्र के द्वारा आचरणों का अभ्यास। यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से प्रतिक्रमण आचारशास्त्र की

कोटि का ग्रन्थ नहीं है। इसमें आचार पद्धति का निरूपण भी नहीं है। विशुद्ध रूप से यह प्रायश्चित्त शास्त्र है। तो भी हम आचार-विशुद्धि का हेतु होने के कारण इसे आचार की कुञ्जी कह सकते हैं। जब तक अतिचार एवं अनाचार की जानकारी नहीं हो पाती है तब तक कोई भी मनुष्य आचार पालने में कुशल नहीं हो पाता। प्रस्तुत ग्रन्थ में आचार के दोषों का विस्तृत वर्णन है। इन दोषों के वर्जने से आचार अपनेआप विशुद्ध बन जाता है। इसमें परोक्षरूप से कहे हुए आचार के अनुसार चलनेवाले मनुष्य निःसन्देह अपने को ऊँचा उठा सकते है। जो बारह व्रतों का उपदेश है, वह मानो विशुद्ध जीवन का अनूठा चित्र है। उसमें एक उपयोगी समाज का दिग्‌दर्शन या रूपरेखा है। प्रतिक्रमण धर्म का विशुद्ध अङ्ग है। इसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति अपने स्तर को कितना ऊँचा उठा सकता है, यह पाठक स्वयं समझ सकेंगे, पर जो मनुष्य धार्मिक आचरण न करते हुए यह आरोप लगाते हैं कि धर्म से हमें कोई लाभ नहीं मिलता, वह उनकी कमजोरी है, धर्म का कोई दोष नहीं उसको कोई पाले ही नहीं तो उससे लाभ कैसे मिले ?

अस्तु—इस प्रसंग में मैं एक उस अप्रासंगिक बातकी भी चर्चा करना जरूरी समझता हूं, जिसमे आश्चर्य और खेद का सम्मिश्रण है। बहुधा सुनने एवं पढ़ने को मिलता है कि धर्म आज के युग के लिये उपयोगी नहीं, वह चाहे जैन हो या कोई दूसरा हो। जो दर्शन जिसलिये चले थे, वे अपना काम कर चुके। आज उनसे हमें कोई सहायता नहीं मिल सकती। खैर, उनके कथनानुसार धर्म से समाज को कोई बल मिले या न मिले—वह

तो एक दूसरी बात है। पर जब हम धर्मकी मूल भित्तिको देखते हैं, धर्म हमें क्यों मान्य है, इस पर दृष्टि पसारते हैं, तब उक्त शंका अपने आप निर्मूल हो जाती है। आर्थिक उन्नति के लिये, भौतिक साधनों का विकास करने के लिये, धर्म की आवश्यकता न तो कभी पहले ही महसूस की गई और न आज भी की जाती है और न की जानी चाहिये। समाज एवं शासन को व्यवस्थित बनाये रखने के उद्देश्य से ही जैसा कि कई लोगों का ख्याल है—न तो वह चला और न अब चलना ही चाहिए। व्यवस्था सामूहिक जीवन का एक आवश्यक अङ्ग है, उसमें धर्म का क्या सवाल? उसके बिना कोई टिक नहीं सकता। वह अनिवार्य है। उसके लिए धर्म की क्या आवश्यकता हुई और आज भी क्या हो सकती है? जो वस्तु जिसके बिना ही बन सके, उसके लिए उसकी कल्पना करना व्यर्थ है। धर्म के बिना ही जब व्यवस्था हो सकती है तब उसके लिए धर्म की कल्पना करने की जरूरत ही क्या? और जो जरूरत समझते हैं, उनके लिए धर्म व्यवस्था का ही पर्यायवाची शब्द है, इसके आगे कुछ भी नहीं। वह ऐसा माननेवाले अपने आपको चाहे आस्तिक समझते हों; चाहे नास्तिक; वस्तुतः आत्मा को न माननेवाले ही समझने चाहिये। जो सच्चा आस्तिक है—जिसे आत्मा पर दृढ़ विश्वास होता है, वह धर्म को व्यवस्था की सीढ़ी से आगे की वस्तु मानता है। उसकी दृष्टि मे धर्म का उद्देश्य व्यक्ति का आत्म-विकास करने का होता है। दर्शन की वाणी मे जिसका नाम मोक्ष है। हां! धर्म से व्यवस्था को बल मिलता है पर वह उसका गौण फल है। वह भी उसी हालत में जबकि सब

लोग हृदय से धर्म को पालनेवाले बन जांय। अन्यथा वह भी नहीं। क्योंकि व्यवस्था को कायम रखने के लिये किसी न किसी रूप में बल-प्रयोग करना ही पड़ता है। धर्म को वह कतई नामंजूर है। धर्म से समाज एवं शासन की व्यवस्था न तो कभी पहले ही चली और न आज भी चल सकती है। धर्म तो केवल व्यक्ति-व्यक्ति की आत्मा की सद्व्यवस्था कर सकता है। जबर्दस्ती एवं दण्ड-विधान से बांधेजानेवाले समष्टि के विचारों की नहीं। अतएव यह कहा जा सकता है कि धर्म की उद्देश्यानुसारी उपयोगिता जो पहले थी, वह आज भी है और आज है, वह पहले थी; उसमें कोई अन्तर नहीं आ सकता। जैसाकि वर्तमान आचार्यश्रोने लिखा है—"अपरिवर्तनीय स्वरूपत्वेन" लौकिक कर्त्तव्यों से धर्म को भिन्न मानने के अनेक हेतुओं में से यह भी एक हेतु है, जिस समय जहां जैसी जरूरी व्यवस्था जान पड़ती है वहां वैसी ही बन जाती है। जैसे सामूहिक जीवन के प्रारम्भ में कुलपतियों की आवश्यकता हुई थी। उसके बाद जब सामूहिक अन्याय बढ़ने लगे तब राजतन्त्र का जन्म हुआ। राजतन्त्र की मनमानी में जब साम्राज्यवाद पनपने लगा, जनसाधारण के हितों की ओर ध्यान नहीं दिया जाने लगा तब जनतन्त्र में सुख की आभा मिली। जनतन्त्र को भी लोकहित के लिये अधूरा माननेवाले व्यक्तियों ने समानता के आधार पर समाजवाद को जन्म दिया। इस प्रकार ज्यों २ समय बीतता चला गया त्यों २ लोकमत का प्रतिनिधित्व करनेवाली व्यवस्था भी बदलती रही और रहेगी। चूंकि शासन-नियम भौतिक सुखों को पाने के लिये बनाये जाते हैं। वह देश, काल और भूमि की

परिस्थितियों से अलग २ होते हैं। भिन्न २ देशवासियों की उपयोगिताएं भी भिन्न २ और उन्हें साधने के तरीके भी भिन्न-भिन्न हैं। अतः उनमें परिवर्तन होना स्वाभाविक है। इसके विपरीत धर्म का लक्ष्य सदा और सबके लिये एक है—आत्म-साधन है। इसीलिए वह अभिन्न और अपरिवर्तनीय है। इस दशा में समाज एवं शासन-व्यवस्था की त्रुटियों के कारण धर्म को बदनाम करना, और धर्म हमारेलिये आज कोई काम की चीज नहीं—ऐसा कहना एकान्त अविवेकपूर्ण है।

प्रतिक्रमण शुद्ध हृदय की आवाज है—रूढ़ि नहीं

प्रतिक्रमण का प्रत्येक शब्द शुद्ध भावना का अग्रदूत है। प्रतिक्रमण करनेवालों का दिल साफ होना चाहिए। वह शुद्ध हृदय की आवाज है, रूढ़ि नहीं। कलह—कदाग्रह करना, वैमनस्य—वैर विरोध रखना, दूसरों की निन्दा करना आदि २ बातें प्रायश्चित्त का महत्त्व समझनेवालों को शोभा नहीं देतीं। एक ओर हम "खामेमि सव्वेजीवा, सव्वे जीवा खमतुमे" का ध्यान धरते है, दूसरी ओर किसी से अनुचित व्यवहार करके माफी मांगने से हिचकिचाते हैं। इसे प्रतिक्रमण की सार्थकता नहीं कह सकते। यह समझ की त्रुटि है। इसका अर्थ तो यह हुआ कि हम केवल प्रतिक्रमण के शब्द जपते हैं, अर्थ नहीं समझते। वरना "खामेमि सव्वे जीवा" के अर्थ को समझने वाला ऐसा नहीं कर सकता। इन शब्दों में हम इस भावना को स्पष्ट करते है कि मैं सब जीवों से, मेरे अनुचित व्यवहार की माफी चाहता हूं और दूसरों के अनुचित व्यवहारों को मैं साफ दिल से माफ करता हूं। फिर हमें अपने दोषों को स्वीकार करने में एवं उनके लिए क्षमा मांगने में क्यों आपत्ति होनी

चाहिए। क्यों छोटी २ बातों के लिए समाज की शृङ्खला को छिन्न-भिन्न करना चाहिये। यह बातें ऐसे तो तुच्छ हैं पर समाज संगठन के लिए बहुत बाधक हैं। श्रावकों के लिए यह नितान्त विचारणीय हैं।

महामान्य आचार्य श्री "तुलसी गणी" का कृपापूर्ण आदेश ही इस टीका-निर्माण का हेतु है। हमारी संस्था के नियमानुसार शरीर और वाणी ही नहीं अपितु मन तक आचार्यदेव के चरणों में समर्पित है। अक्षरबोध से लेकर जो कुछ है, वह सब उन्हीं की देन है। अतएव मैं श्रीचरणों का उपकार या आभार मानने की बात कैसे कहूं ? मैं स्वयं उन्हीं का हूं—और मेरा जो कुछ प्रयास है, वह सबही उन आर्य चरणों की पुनीत उपासना का फल मात्र है।

सम्वत् २००२ पौष कृष्णा १ —मुनि नथमल

# श्रावक प्रतिक्रमण

## णमुक्कार सुत्तं

( नमस्कार सूत्र )

णमो अरिहंताणं ।

णमो सिद्धाणं ।

णमो आयरियाणं ।

णमो उवज्झायाणं ।

णमो लोए सव्वसाहूणं ।

( छाया )

नमः अरिहन्तृभ्यः नमः सिद्धेभ्यः

नमः आचार्येभ्यः नमः उपाध्यायेभ्यः

नमः लोके सर्वसाधुभ्यः

शब्दार्थ

णमो अरिहंताणं—मैं अरिहन्त भगवान् को नमस्कार करता हूं।
णमो सिद्धाणं—मैं सिद्ध भगवान् को नमस्कार करता हू।
णमो आयरियाणं—मैं आचार्य महराज को नमस्कार करता हू।
णमो उवज्झायाणं—मैं उपाध्याय महाराज को नमस्कार करता हू।
णमो लोए सव्वसाहूणं—मैं लोक के सर्व साधुओ को नमस्कार करता हू।

भावार्थ—इसका नाम नमस्कार महामन्त्र है। इसमें पांच श्रेणी की परम आत्माओं को नमस्कार करने का विधान है।

नमस्कार किसे करना चाहिये ?

नमस्कार पूज्य आत्माओं को करना चाहिये। पूज्य आत्माओं की परीक्षा के लिये हमें प्रत्येक आत्मा के गुणों पर दृष्टिपात करना होगा। तत्पश्चात् इन गुणों के आधार पर सब आत्माओं का विभाजन और वर्गीकरण करना पड़ेगा। मिथ्यात्व, सम्यक्त्व, चारित्र और पूर्ण कर्मक्षय, इन चार लक्षणों से आत्माओं के चार विभाग होते हैं। यथा—

(१) बहिरात्मा,
(२) अन्तरात्मा,
(३) साधक परमात्मा,
(४) सिद्ध परमात्मा।

—जिनको आत्मा आदि तत्त्वों का यथावत् भान नहीं है, वह आत्माएं मिथ्यात्त्व के कारण बहिरात्मा कहलाती हैं।
—जिन्हें आत्मा आदि का भान है, वह आत्मायें सम्यक्त्व के कारण अन्तरात्मा कहलाती हैं।
—जिन्होंने आत्मा को जड़ पदार्थ से पृथक् करने के लिए सब

पापकारी प्रवृत्तियों का परित्याग किया हैं, वह आत्माएं चारित्र के कारण साधक परम-आत्मा कहलाती हैं
—सब कर्मों का नाश कर जिन्होंने आत्मा का शुद्ध स्वरूप मोक्ष पा लिया है वह आत्माएं सर्वोच्च विशुद्धि की प्राप्ति के कारण सिद्ध परम-आत्मा कहलाती हैं।

इन चार कक्षाओं में सब आत्माओं का वर्गीकरण है। अध्यात्मदृष्टि में परमात्मा ही नमस्कार के योग्य हैं। चाहे वह साधक हों, चाहे सिद्ध हों। सिद्ध परमात्मा सर्वथा मल रहित होते हैं—इसलिये उन्हें नमस्कार किया जाता है। साधक परमात्माओं की मानसिक, वाचिक एवं शारीरिक प्रवृत्तियाँ हिंसा, असत्य आदि दोषोंको पूर्ण रूपेण त्याग देती हैं अतएव वह पूज्य-नमस्कार के योग्य बन पाते है*। इस नमस्कार सूत्र में इन दो श्रेणी की परमात्माओं को ही नमस्कार किया जाता है। जैसे—

"णमो सिद्धाण, णमो लोए सव्व साहूण"।

अरिहन्त, आचार्य, और उपाध्याय साधु-श्रेणीगत ही हैं। इनका पृथक् निर्देश केवल पदवी की अपेक्षा से है। इनके अतिरिक्त पहली दो श्रेणी की आत्माओं को प्रणाम किया जाता है, वह लौकिक दृष्टि का कार्य है।

---

* द्रव्य और भाव उभय-चारित्र सम्पन्न मुनि ही वंद्य है; (आ० नि० गा० ११ ६), वन्दनीय तथा अवन्दनीय के सम्बन्ध में सिक्के की चतुर्भंगी प्रसिद्ध है (आ० नि० गा० ११—३८), वन्दनीय सिर्फ वही है, जो शुद्ध चान्दी तथा शुद्ध मोहर वाले सिक्के के समान द्रव्य और भाव उभयलिङ्ग सम्पन्न है (आ० नि० गा० ११—३९), असयम आदि दोषो के अनुमोदन द्वारा कर्मबन्ध होता है (आ० नि० ११—९)।

नमस्कार किस भावना से करना चाहिये ?

परमात्माओं को नमस्कार ऐहिक या पारलौकिक पौद्गलिक सुख की प्राप्ति के लिये, मान, प्रतिष्ठा, सत्कार, सन्मान एवं यश कामना के लिए नहीं; केवल आत्मा को विशुद्ध करने के लिए— कर्ममल को दूर करने के लिए ही करना चाहिये। धर्मदृष्टि में आत्मशुद्धि का महत्त्व है; पौद्गलिक सुख का नहीं। इसलिये लक्ष्य पर चलना ही हित का परम साधन है। हां! वह पौद्गलिक सुख-लक्ष्य के अनुगामी जनों को स्वयं प्राप्त हो जाता है। पर उन्हें इसे प्राप्त करनेके लिये अलग प्रयास करने की कोई आवश्यकता नहीं। चूंकि पौद्गलिक सुख का हेतु पुण्य है। पुण्य का हेतु शुभ योग है। नमस्कार करना शुभ योग की प्रवृत्ति है। नमस्कार करने से पुण्य-बन्ध अपने आप हो जाता है। इसलिये नमस्कार केवल आत्म-उज्ज्वलता के लिये ही करना चाहिये।

नमस्कार करने से हमें क्या फल मिलता है ?

नमस्कार करने का फल आत्मशुद्धि है और गौण फल पुण्य का बन्ध है। उक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंच जाते है कि अध्यात्म दृष्टि में नमस्कार करने का लक्ष्य और फल लौकिक दृष्टि से भिन्न है। इसलिये आत्मशुद्धि के लिये नमस्कार करते समय योग्य अयोग्य की परीक्षा करना नितान्त आवश्यक है। यह सब निर्णय हो जानेके पश्चात् हमें उन पूज्य आत्माओं के विषय में भी एक दृष्टि डालनी चाहिये, जिन्हें नमस्कार करने के लिये हम उत्सुक है।

अरिहंत

हमारे नमस्कार मन्त्र के पांच पद है। पहले पद के अधिकारी अरिहन्त है। अरिहन्त का अर्थ है शत्रु को मारने वाला। हमारा लक्ष्य आत्मशुद्धि है। हमारे नमस्कार के पात्र परमात्मा हैं। उनको हिंसक शब्द के द्वारा सम्बोधित करते हुए क्या हम

विपरीत दिशा को नहीं जा रहे हैं ? हमें चाहिये था कि हम उन्हें एक पुनीत शब्द से नमस्कार करते, पर ऐसा नहीं किया गया। क्या इसमें कोई गूढ़ तत्त्व है ? हां, यह एक तत्त्व-समीक्षा है। वस्तुतः अरिहन्त शब्द हिंसक वृत्ति का सूचक नहीं। हिंसक वृत्ति होने का हेतु राग-द्वेष है। अरिहन्त राग-द्वेष रहित होते है। राग-द्वेष रहित वृत्ति से ही शत्रु का नाश कर सकते हैं। अच्छा होगा, यदि हम पहले शत्रु को समझ ले। हमारा शत्रु कोई मनुष्य नहीं, पशु नहीं, पक्षी नहीं, हमारी आत्मा ही हमारा शत्रु है। आत्मा की राग-द्वेषरूप दुष्प्रवृत्ति ही शत्रु है। मनुष्य एवं पशु-पक्षी को शत्रु मान लेना—मन की भ्रान्ति के सिवाय कुछ नहीं है। प्राणी प्राणी का कुछ नहीं बिगाड़ सकता। बिगाड़ करने वाली एक मात्र आत्मीय दुष्प्रवृत्ति ही है। इसी आशय से भगवान् ने फरमाया है—

"अप्पामित्तममित्त च दुप्पट्ठिअ सुपट्ठिअ"

सदाचार में प्रवृत्त होने वाली आत्मा मित्र है; दुराचार में प्रवृत्त होने वाली आत्मा अमित्र है—शत्रु है। गोतम स्वामी ने केशी स्वामी को स्पष्ट शब्दों में कहा है—

"एगप्पा अजिए सत्तु कसाया इन्द्रियाणिय"।

अर्थात् अवश आत्मा, कषाय और इन्द्रिय विकार शत्रु है। नमी राजर्षि ने इन्द्र को उत्तर देते हुए कहा है—

"अकारिणो एत्थ वज्झन्ति, मुच्चइ कारगो जणो"।

हमारा अपराध नहीं करने वाले चोर-लुटेरों को हम दण्ड देते है और हमारी सद्गुण राशि को लूटने वाले क्रोध आदि अवगुणों को दण्डित करने मे हम उपेक्षा रखते है। इस विवेक-

ज्ञान से हम असली शत्रु को पकड़ सकते हैं। अरिहन्त इसी लिये हमारे उपास्य हैं कि उन्होंने सभी शत्रुओं का वध कर डाला। अरिहन्त शब्द हमें सिखाता है कि शत्रु को शत्रु समझो, मित्र को नहीं। तत्व को पहचानने के बाद अरिहन्त शब्द की पवित्रता में संदेह नहीं हो सकता। पहले पद का अरिहन्त शब्द तीर्थङ्कर का बोधक है। तीर्थङ्कर धर्म के प्रवर्त्तक एवं चार तीर्थ साधु—साध्वी—श्रावक—श्राविका के संस्थापक होते हैं। आठ कर्मों में से चार घातिक कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त करते हैं। चार कर्मरूपी शत्रुओं का क्षय करने के कारण वे अरिहन्त कहलाते हैं। दूसरे शब्दों में हम उन्हें सशरीरी पर-मात्मा भी कह सकते हैं। अरिहन्त उसी जन्म में शेष आयु आदि चार कर्मों का क्षय कर मोक्ष पा लेते हैं।

सिद्ध

दूसरे पद में सिद्ध हैं। सब कर्मों का नाश कर जो मुक्त हो जाते हैं—वे सिद्ध कहलाते हैं। इन्हें साधनकी कोई आव-श्यकता नहीं होती है। सिद्ध शब्द मुक्तावस्था का द्योतक है। मुक्तावस्था अनन्त, अपुनरावृत्ति एवं अजर अमर है।

आचार्य

तीसरे पद में आचार्य हैं। "आचारकुशलत्वादाचार्यं" आचार में कुशल होने से आचार्य कहलाते हैं। आचार साधु-वृत्ति का आचरण है। उसमें साधु भी कुशल होते हैं। पर आचार्य की विलक्षणता है। आचार्य स्वयं सावधान रहते हैं और दूसरे साधुओं को सचेत रखते हैं। उनका अनुशासन आचार की शिक्षा एवं दीक्षा से परिपूर्ण होता है। अरिहन्त की अनुपस्थिति में उनका सब भार आचार्य के कन्धों पर ही होता है। अतएव आचार्य धर्मधुरन्धर, धर्म-सार्थवाह आदि शब्दों से

सम्बोधित किये जाते हैं।

चौथे पद के अधिष्ठाता उपाध्याय हैं। आचार्य के द्वारा उनकी उस पद पर नियुक्ति होती है। अध्ययन-अध्यापन का सारा काम इनके अधिकार में होता है। उपाध्याय

पांचवे पद के अधिनायक साधु हैं। "साध्नोति मोक्षं स्व-पर कार्याणि वा साधु." मोक्ष एवं स्व-पर के कार्यों को साधने वाले साधु कहलाते हैं। पांच[1] महाव्रत—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रहको विधिवत् पालनेवाले व्यक्ति ही साधु होते हैं। साधु जन्मसिद्ध या जातिसिद्ध नहीं हो सकते। पांच महाव्रत के रक्षा स्वरूप आठ नियम और भी उनके लिये अनिवार्य हैं। वे हैं पांच समिति और तीन गुप्ति। ※समिति का अर्थ है सम्यक् प्रवृत्ति और *गुप्ति का अर्थ है—निवृत्ति। समिति पांच हैं— साधु

(१) *ईर्या*—देखकर चलना।

(२) *भाषा*—पापरहित बोलना।

(३) *एषणा*—दोषरहित आहार लेना।

(४) *आदान-निक्षेप*—वस्त्र आदि को सावधानी से लेना और सावधानी से रखना।

(५) *उत्सर्ग*—मल, मूत्र, श्लेष्म आदि का जीव रहित भूमि में उत्सर्जन त्याग करना।

---

[1] अहिंस सच्चं च अतेणगं च, ततो अबंभं अपरिग्गहं च।
परिवज्जिया पच महाव्वयाइं, चरिज्ज धम्मं जिणदेसिअं विउ॥
—उत्तराध्ययन

※ सयमानुकूलाप्रवृत्ति समिति. —जैन सिद्धान्त दीपिका

* सम्यग् योगनिग्रहो गुप्ति. " "

# तिक्खुत्तो पाठ

गुरु वन्दन विधि

मूल पाठ

तिक्खुत्तो। आयाहिणं। पयाहिणं। (करेमि) वन्दामि। नमंसामि। सक्कारेमि। सम्माणेमि। कल्लाणं। मङ्गलं। देवयं। चेइयं पज्जुवासामि। (मत्थएण वंदामि)।

छाया

त्रिः कृत्वः, आदक्षिण-प्रदक्षिणं (करोमि), वंदे, नमस्यामि, सत्करोमि, सन्मानयामि, कल्याणं, मंगलं, दैवतं, चैत्यं, पर्युपासे (मस्तकेन वंदे)।

शब्दार्थ

| | |
|---|---|
| तिक्खुत्तो—तीन बार | मंगलं—मंगल |
| आयाहिणं—दाईं से बाईं ओर | देवयं—धर्मदेव ! |
| पयाहिणं—प्रदक्षिणा | चेइयं*—चैत्य-ज्ञानवान्—चित्ताह्लादक |
| करेमि—करता हूं। | पज्जुवासामि—गुरुदेव ! मैं आपकी पर्युपासना—सेवा करता हू। |
| वंदामि—स्तुति करता हू। | मत्थएण-वंदामि—और मै आपको मस्तकसे वन्दना करता हू। |
| नमंसामि—नमस्कार करता हू। | |
| सक्कारेमि—सत्कार करता हू। | |
| सम्माणेमि—सम्मान करता हू | |
| कल्लाणं—कल्याण | |

अर्थ-

मैं दक्षिणी तरफ से आरम्भ कर, तीन बार प्रदक्षिणा देते हुए गुरुदेव की स्तुति करता हूं, उनको नमस्कार करता हूं, सत्कार करता हूं, उनका सम्मान करता हूं। वे गुरु महाराज कल्याण हैं, मंगल हैं; धर्मदेव हैं, ज्ञानवन्त हैं, चित्त को प्रसन्न करने वाले हैं। ऐसे गुरूदेव की मैं सेवा करता हूं, मस्तक झुका कर वन्दना करता हूं।

विवेचन- यह गुरु को वन्दना करने की विधि है। गुरु को वन्दना करते समय किस प्रकार नम्र होना चाहिये, उसका उपदेश है। नम्रता अहंकार की प्रतिपक्षिणी है। नम्रता से गुरु के गुणों के प्रति ध्यान आकृष्ट होता है और उनका अनुसरण करने की भावना प्रबल हो उठती है। विनय एक महान् गुण है, उसका

---

* सुप्रशस्त मनोहेतुत्वात्

सम्बन्ध मन, वचन और शरीर इन तीनों से है। अतएव वंदन-सूत्र में इन तीनों को सरल करने का विधान है। तीन वार दाहिनी ओर से दोनों हाथों को जोड़ कर प्रदक्षिणा करना शरीर की नम्रता है। गुरुदेव ! मैं आपको वन्दना करता हूं, नमस्कार करता हूं सत्कार करता हूं; सम्मान करता हूं, यह वाचिक विनय है। गुरुदेव ! आप कल्याण हैं—श्रेयस के साधन हैं। कल्याण का अर्थ प्रातःस्मरणीय भी होता है। जैसे अमर कोष १।४।२५ में भानुजी दीक्षित ने लिखा है :

"कल्ये प्रात काले अण्यते भण्यते इति कल्याणम्"

अर्थात् जो प्रातःकाल पुकारा जाता है; वह प्रातःस्मरणीय है। गुरुदेवका नाम प्रातःकाल उठते ही अगम्य हृदयकी सद्भावनाओं के साथ साथ स्मृतिमें आ उतरता है अतः गुरुदेव प्रातःस्मरणीय हैं ही। सुप्रसिद्ध आगम टीकाकारोंने कल्याण का अर्थ "नीरोगता प्रदान करनेवाला" किया है। जैसे—

"कल्य अत्यन्त नीरुक्तया मोक्ष.,
तमाणयति प्रापयति इति कल्याण· मुक्तिहेतो"

इसका आशय यह है कि कल्य यानी रोगमुक्तस्थान मोक्ष है क्योंकि उसमें ही आत्मा पूर्णरूपेण कर्मरोग से मुक्त रह सकती है। उस नीरोगदशा—मोक्ष को प्राप्त करानेवाला कल्याण कहलाता है। गुरु मोक्षपथके दर्शक हैं अतः उनको कल्याण कहना उनके कार्य्यके अनुरूप है।

गुरुदेव ! आप मंगल हैं। मंगल शब्द भी बाहरीरूपसे तो कल्याण से मिलता जुलता सा है किंतु इसका आन्तरिक तत्त्व कुछ और है। संसारिक जनता द्रव्य मंगल—दूर्वा, कुंकुम; अथवा

सांसारिक देवता, इन अवास्तविक मंगलों के चक्रमें फंसकर वास्तविक मंगल, जो अध्यात्म मंगल है, उसको भूलसी गई हैं अतः उस भूलको सुधारने के लिए, आत्मजागरण में लीन रहनेके लिए गुरुदेव के साथ मंगल शब्द जोड़ा गया है। इसका अर्थ यह है कि गुरुदेव ! मुझे संसारचक्र—जन्ममरण-परंपरा से छुड़ानेवाले आप ही हैं अतः मेरे लिए आपही वास्तविक मंगल हैं। जैसा कि मंगल शब्द की व्युत्पत्ति बतलाते हुए आचार्य हरिभद्र ने लिखा है—

"मां गालयति भवादिति मगलम्, ससारादपनयति"

जो मुझे—मेरी आत्मा को संसार बंधन से मुक्त करता है; वह मंगल है। यह विशेषण गुरु के साथ समुचितरूप से घटता है।

गुरुदेव ! आप धर्मदेव हैं। जैनदर्शन हमें उन भोगी-विलासी देवताओं की उपासना करना नहीं सिखाता। अध्यात्म-मार्ग उन्हीं देवताओं की अराधना करना सिखाता है; जो "दिव्यन्ति स्वरूपे देवा" आत्मस्वरूप में देदीप्यमान् हैं, जिनकी आत्मा में विशुद्ध चारित्र की लौ जगी हुई है। गुरु के लिए देव शब्द का प्रयोग करना अत्युक्ति नहीं। गुरु का स्थान तो देवता से कहीं और अधिक ऊंचा है। गुरुको हम नमस्कार महामन्त्रमें परमेष्टी या परमात्मा कहते हैं तो फिर क्या 'देवता' का परमात्मा से भी अधिक महत्त्व है ? एक बात और भी आश्चर्य की है कि जब आचार्य को तीर्थंकर के समान भगवान् या पूज्य परमेश्वर कहा जाता है तब बहुत से जैनी भी असमंजस में पड़ जाते हैं परन्तु गम्भीरता से काम लिया जाय तो इसमें विचार करने जैसी कोई भी बात नहीं। सामायिक-ग्रहण के समय गुरु को 'भन्ते'

शब्द से सम्बोधित किया जाता है, जिसका अर्थ है 'भगवन्'। इसके अतिरिक्त आचार्यों को "अजिणा जिणसक्कासा" जिन नहीं किन्तु जिनके समान कहा गया है। जैनधर्म के सिवाय वैदिक धर्म में भी संसार से उदासीन महात्मा को दूसरा परमेश्वर कहा है। जैसे—

कान्ताकाञ्चनचक्रेषु, भ्राम्यति भुवनत्रयम् ।
तासु तेषु विरक्तो यो, द्वितीय. परमेश्वर ॥

अतः उपरोक्त शब्दों से आचार्य को सम्बोधित करना सर्वथा उचित है।

गुरुदेव ! आप चैत्य हैं; अर्थात् ज्ञानसहित हैं। चैत्य शब्द अनेकार्थक है। प्रस्तुत पाठ की टीका करते हुए भिन्न भिन्न आचार्यों ने भिन्न २ अर्थ किये हैं, जैसे:—

*चैत्य*—चित्त को आह्लादित* करनेवाले।

*चैत्य*—मनके †सुप्रशस्त होने के हेतु।

कई आचार्य चैत्य का अर्थ प्रतिमा भी करते हैं परन्तु इसका गुरुवन्दन के साथ मेल नहीं बैठता। इस प्रकार की हृदयवर्तिनी शुद्ध भावना मानसिक विनय है। आप इस प्रकार गुण सम्पन्न धर्ममूर्ति हैं। अतएव मैं आपके तप पूत चरणों में सबसे उत्तम अङ्ग सिर को झुका कर प्रणाम करता हूँ। कार्य कारण के अनुरूप ही करना चाहिये। यही औचित्य और सद्विवेक है कि गुण सम्पन्न आत्माओं का विशाल गुण गौरव हमें वन्दना की ओर प्रेरित कर सके, चूंकि नमस्कार जीवन की एक अमूल्य निधि है।

* चित्ताह्लादकत्वाद् वा चैत्यः—ठा० ठा० ४ उ० २ अभयदेवसूरि

† चैत्य सुप्रशस्तमनोहेतुत्वात्—राजप्रश्नीय, सूर्याभदेवताधिकार ।

# सामाइय पइन्ना

## सामायिक-प्रतिज्ञा

### [ सामायिक विधि ]

मूल पाठ

करेमि भंते ! सामाइयं सावज्जं जोगं पच्च-क्खामि जाव नियमं ( मुहुत्त एगं ) पज्जुवासामि दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि मणसा वयसा कायसा तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ।

छाया

करोमि भगवन् ! सामायिकं सावद्यं योगं प्रत्याख्यामि यावन्नियमं ( मुहूर्तम् एकम् ) पर्युपासे द्विविधं त्रिविधेन न करोमि न कारयामि मनसा वचसा कायेन । तस्यापि भगवन् ! प्रति-क्रमामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि ।

शब्दार्थ

करेमि—करता हूं।
भन्ते!—हे भगवन्!
सामाइयं—सामायिक
सावज्जं जोगं—सावद्य योग का
पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूं।
जाव नियमं--समायिक का जितना (एक मुहूर्त तक) काल है।
पज्जुवासामि—पालन करताहूं।
दुविहं—दो कारण
तिविहेणं—तीन योग से
न करेमि—न करूंगा।
न कारवेमि—न कराऊंगा।
मणसा—मन से
वयसा—वाणी से
कायसा—शरीर से
*तस्स भन्ते!—पूर्वकृत सावद्य योग से हे भगवन्!
पडिक्कमामि—निवृत्त होता हूँ।
निन्दामि—निन्दा करता हूँ।
गरिहामि—गर्हा करता हूँ।
अप्पाणं—आत्मको
वोसिरामि—पाप से दूर करता हूँ।

अर्थ

हे भगवन्! मैं समता रूप सायायिक व्रत ग्रहण करता हूं। पापमय कार्यों का त्याग करता हूं। एक मुहूर्त (४८ मिनिट) तक मैं पापमय कार्यों का, दो करण तीन योग से (न करूं, न कराऊं, मन से, वचन से, काया से) त्याग करता हूं! पूर्व कृत पापों से भी हे भगवन्! मैं निवृत्त होता हूं। उनकी निन्दा करता हूं, उनसे घृणा करता हूं और उनसे दूर होता हूं। सामायिक प्रतिज्ञा

* तस्यापि शब्द लोपात् षष्ठी च द्वितीयार्थे अतीत सावद्य-योगमपि।

विवेचन

सामायिक — सामायिक शब्द जैन जगत में आबालवृद्ध प्रसिद्ध है। प्रायः धार्मिक स्त्री-पुरुषों में सामायिक करने की प्रबल उत्कण्ठा रहती है। सामायिक, दिनचर्या का एक प्रधान अङ्ग है। बहुत से गृहस्थ दिन की पहल सामायिक से ही करते हैं। सामायिक वस्तुतः अभ्यास के उपयुक्त है। इससे जीवन-वृत्तियाँ शुद्ध बनती हैं। संयमी-जीवन का अनुभव होता है। आत्मा को शुद्ध, सरल और उन्नत होने में इससे असाधारण प्रेरणा मिलती है।

सामायिक क्या है? — एक मुहूर्त तक हिंसा, असत्य, चौर्य, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि पापकारी प्रवृत्तियों को त्याग देने का नाम सामायिक है। जिस प्रकार इन दुष्प्रवृत्तियों का सेवन निज को मन, वचन एवं शरीर से त्यागना पड़ता है, उसी प्रकार दूसरों के पास मनसा, वाचा, कर्मणा, पापमय कार्य न कराऊँ, यह भी प्रत्याख्यान करना पड़ता है*। सामायिक आत्म-संयम है। अशुभ आचरणों की निवृत्ति है।

---

* सामायिक का प्रत्याख्यान छ कोटि से करने का विधान है और उसका पालन करने की परम्परा आठ कोटि से है। यदि सामायिक व्रत का आठ कोटि से प्रत्याख्यान किया जाय तो भी कोई आपत्ति नही है। जैसे सावद्य कार्य न करूँ मन से, वचन से, काया से, न कराऊँ मन से, वचन से, काया से, न अनुमोदूँ वचन से, काया से।

सामायिक से जो लाभ होता है वह सामायिक शब्द में ही अवतरित है। जिस अनुष्ठान से समता का लाभ मिले वह सामायिक है। सामायिक करने से गृहस्थ साधु की तरह संयमी बन जाता है। साधु का संयम पूर्ण होता है और गृहस्थ का संयम आंशिक, तो भी 'समुद्रवत्तडागः' के अनुसार सामायिकव्रत गृहस्थ को साधुवृत्ति का उपमेय बना देता है। सामायिक का लाभ बतलाते हुए प्राचीन आचार्यों ने लिखा है— सामायिकसे लाभ

गृही त्रसस्थावरजन्तुराशिषु, सदैव तप्तायसगोलकोपमः।
सामायिकावस्थित एव निश्चितं, मुहूर्त्तमात्र भवतीह तत्सखः॥

अर्थात् गृहस्थ त्रस और स्थावर दोनों प्रकार के प्राणियों के लिये अग्नितप्त लोहे के गोले के समान है। चूंकि गृहस्थ सांसारिक प्रवृत्तियों में फंसे रहने कारण सब प्रकार के प्राणियों की हिंसा करने में तत्पर रहता है। हिंसा-तत्पर होने के कारण निस्सन्देह सब प्राणियों का शत्रु है। वही गृहस्थ सामायिकस्थ होते ही एक मुहूर्त्त के लिये सब प्राणियों का सखा बन जाता है, इससे बढ़ कर और क्या लाभ हो सकता है? यह निरारम्भ वृत्ति की उपासना का ही फल है कि एक गृहस्थ भी सबको अभय दान दे देता है और सबका मित्र बन जाता है। इसके अतिरिक्त सामायिक से पूर्व संचित कर्मों का नाश होता है और आत्मा उज्ज्वल बनती है।

सामायिक साधना है, सिद्धि नहीं। सामायिक का पालन जैसे उपयोगी है, वैसे ही उसका असली स्वरूप जानना भी उपयोगी है। सामायिक को स्वीकार कर क्या करना चाहिये? यह अवश्य ज्ञातव्य है। अन्यथा निज को भी सामायिक के सामायिक अभ्यास है

महत्त्व का भान नहीं होगा और आसपास के पड़ोसी भी उसे उपहास की सामग्री बना देंगे। शून्य-चित्त की क्रिया तो जैसी होती है वैसी ही होती है। सामायिक आत्मा को सावधान करने का साधन है। अतः इसका अनुशीलन साधकों को पूरी सावधानी से करना चाहिये। सामायिक के उचित कर्त्तव्यों का उल्लेख करते हुए शास्त्रकारों ने लिखा है—

सामायिकस्थः प्रवरागमार्थं, पृच्छेन् महात्माचरित स्मरेच्च ।
आलस्य निद्रा विकथादि दोषान्, विवर्जयेच्छुद्धमना दयालु ॥

सामायिक में गृहस्थ को गुरु के समक्ष आगम के अर्थ पूछने चाहिये। उन पर मनन करना चाहिये; मनुष्य क्यों दुखी बनता है ? सुख की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? अनित्य चितन, एकत्व चितन प्रमुख बारह भावनाओं का चिंतन करना चाहिये। महापुरुषों के आचरणों का स्मरण करना चाहिये, जिससे सामायिक का लक्ष्य अटल रह सके। सामायिक में आलस्य, विकथा, निद्रा आदि दोष वर्जनीय हैं। सामायिक में मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्तियों पर पूरा २ संयम होना आवश्यक है। बिना देखे चलना-फिरना और अनुचित ढङ्ग से बैठना, आदि कायिक दोष है। बुरे वचन बोलना, बिना विचारे बोलना, हिंसामिश्रित बोलना, कलहोत्पादक वाणी बोलना, विकथा करना, आने जाने का आदेश देना आदि वाचिक दोष है। कोप करना, यश की अभिलाषा करना, अहंकार करना आदि मानसिक दोष है। सब का साराश यही है कि सामायिक को स्वीकार कर उसके पालन करने में यत्नशील रहना चाहिये। केवल समय की पूर्ति और प्रथा का अनुसरण मात्र

ही आदेय नहीं होना चाहिये।

धम विनय-प्रधान है। सामयिक व्रत स्वीकार करते समय श्रद्धालु गृहस्थ गुरु से आदेश लेता है। गुरुसाक्षी पूर्वक समायिक-प्रतिज्ञा-पाठ का उच्चारण करता है। आत्मा को नि.शल्य बनाने के लिये वह बोलता है—"हे भगवन्! आज से पहिले मैंने जो कुछ पापों का आचरण किया है—उनसे मैं निवृत्त होता हूं। आत्म-साक्षी से उनको मैं निन्दा करता हूं। गुरुदेव! आपकी साक्षी से उस पापाचरण की गर्हा करता हूं और वर्तमान में दुष्प्रवृत्तिमय आत्मा को त्यागतो हूं" उक्त प्रकारेण अतीत सावद्याचार की निन्दा और वर्तमान एवं भविष्य में उसका प्रत्याख्यान करने वाले की आत्मा में सरलता का स्रोत उमड़ पड़ता है। यह कितनी महानता और कितना औदार्य है! मानव-प्रकृति दूसरों के अवगुण देखने में ही तत्पर रहती है, दूसरों को निन्दा में ही मनुष्य संतुष्ट रहता है। पर सामायिक का अभ्यास आत्मा के अवगुणों को देखना सिखाता है। पर-निन्दा से बचने के लिये आत्म-निन्दा का सत्पथ दिखलाता है और भविष्य को उज्ज्वल और साधनामय बनाता है। आत्म-सरलता से सामायिक का घनिष्ट सम्बन्ध है।

सामायिक में आत्म-ऋजुता

बहुत से लोग इस आशंका को लिये हुए सामायिक करने से हिचकते है कि क्या करं, मनतो स्थिर रहता नहीं, फिर केवल सामायिक करनेसे ही क्या लाभ है? इसके बारे में सूत्र रूपसे तो पहले ही कहा जा चुका है कि सामायिक अभ्यास है—साधना है, साध्य नहीं। अध्यात्मसाधक के सन्मुख पूर्ण आत्मविकास—मोक्ष साध्य होता है। साध्य ठीक है तो फिर उसकी साधनामें

समायिक के प्रति औदासीन्य

जो कहीं स्खलना हो जाय, उससे घबराने की तब आवश्यकता नहीं। स्खलना के भय से साधना को छोड़ देना वज्रभूल है। घाटे के भयसे व्यापारीवर्ग व्यापार करना छोड़दे और फसल खराब होने की आशङ्का से कृषकवर्ग बीज बोना छोड़दे तो क्या वे अपना जीवन निर्वाह कर सकते हैं ? आत्मसाधक भी साधना में हो जानेवाली कुछ त्रुटियों से घबड़ाकर समूची साधना को ठुकरादे, यह उचित नहीं। इसके विपरीत उसे उन त्रुटियों पर विजय पाने की चेष्टा करते रहना चाहिए। मानलो कि सामायिक में मन स्थिर न रहा तो उसका पूर्ण लाभ नहीं मिला पर वह बिलकुल बेकार तो नहीं हुई। सामायिक में शरीर, वचन और मन इन तीनों की पापमय प्रवृत्ति करनेका त्याग होता है। मानसिक दोष लगने से समायिक का भंग नहीं होता, किन्तु उसमें दोष लगता है। इसके अतिरिक्त शरीर और वाणी पर नियन्त्रण रहता है, उनका पापमय व्यापार नहीं होता है, यह कोई कम बात नहीं है। विवेकी मनुष्य पूरा लाभ न मिलने की दशामें अधूरा लाभ मिले, उसे छोड़ता नहीं। हां, साधक का लक्ष्य सामायिक में मानसिक दोष सेवन का नहीं होना चाहिए। यदि दोष लगजाये तो उसकी विशुद्धिकेलिए प्रायश्चित्त करले किन्तु इसके बहाने सामायिक करना न छोड़े; क्योंकि साधना करते-करते मन पर विजय होगी तथा पूर्ण विशुद्धि का द्वार भी खुल जावेगा। और संयोगवशात् किसीका मन आजीवन भी वशमें न हो, तो भी वह शरीर और वचनको पाप कर्मों से अलग रखने वाला एवं मानस- विजय की साधना में लगा रहनेवाला टोटेमें नहीं रहता।

# इरियावहियं सुत्तं

[ ईर्यापथिक सूत्र ]

**मूल पाठ**

इच्छामि पडिक्कमिउं इरियावहियाए विराहणाए गमणागमणे पाणक्कमणे बीअक्कमणे हरियक्कमणे ओसा-उत्तिंग-पणग-दग-मट्टी मक्कड़ा-संताणा संकमणे जे मे जीवा विराहिया एगिंदिया, बेइंदिया, तेइंदिया, चउरिंदिया, पंचिंदिया, अभिहया वत्तिया लेसिया संघाइया संघट्टिया परियाविया किलामिया उद्दविया ठाणाओ ठाणं संकामिया जीवियाओ ववरोविया तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।

छाया

इच्छामि प्रतिक्रमितुं ईर्यापथिक्यां विराधनायां गमनागमने प्राणाक्रमणे बीजाक्रमणे हरिताक्रमणे अवश्यायोत्तिंगपनकोदकमृत्तिकामर्कटसन्तानाः (तेषाम्) संक्रमणे ये मया जीवाः विराधिताः एकेन्द्रियाः द्वीन्द्रियाः त्रीन्द्रियाः चतुरिन्द्रियाः पचेन्द्रियाः अभिहताः वर्त्तिताः श्लेषिताः सङ्घातिताः सङ्घट्टिताः परितापिताः क्लामिताः अवद्राविताः स्थानात् स्थानं संक्रामिताः जीवितात् व्यपरोपिताः तस्य मिथ्या मे दुष्कृतम् ।

शब्दार्थ

इच्छामि—मै इच्छा करता हू ।
पडिक्कमिउं—निवृत्त होने की—बचने की ।
इरियावहियाए—मार्ग पर चलने आदिसे होने वाली ।
विराहणाए—विराधना से ।
गमणागमणे—जाने आने मे
पाणक्कमणे—किसी प्राणी को दवाकर ।
बीअक्कमणे—बीज को दबाकर
हरियक्कमणे—वनस्पति दबाकर ।
ओसा—ओस
उत्तिंग—कीडियोके बिल,
पणग—पाच वर्ण की काई ।
दग—पानी ।
मट्टी—मिट्टी
मक्कडा संताणा—मकडी के जाल
संकमणे—आक्रमण हुआ हो
जे मे जीवा—जो मेरेसे जीवोको
विराहिया—विराधाना हुई हो-
एगिंदिया —एक इन्द्रियवाले-
बेइंदिया—दो इन्द्रियवाले
तेइंदिया—तीन इन्द्रियवाले-
चउरिंदिया—चार इन्द्रियवाले
पंचिंदिया—पाच इन्द्रियवाले
अभिहया—सम्मुख आने से चोट पहुँचाई हो
वत्तिया—धूल आदि से ढके हो
लेसिया—भूमि पर मसले हो
संघाइया—इकट्ठे किये हो

| | |
|---|---|
| संघट्टिया—छूए हो | संकामिया—अयत्ना से रखे हों |
| परियाविया—कष्ट पहुचाया हो | जीवियाओ—प्राणसे |
| किलामिया—मृततुल्य किये हो | ववरोविया—रहित किये हो |
| उद्दविया—भयभीत किये हो | तस्स—उसका |
| ठाणाओ—एक स्थान से | मिच्छामि—निष्फल हो मेरे लिये |
| ठाणं—दूसरे स्थान मे | दुक्कडं—पाप। |

### भावार्थ

हे भगवन्! रास्ते में चलते फिरते समय जो मेरे से जीव हिंसा हुई हो, उस हिंसा से होनेवाले अतिचार से निवृत्त होने की मैं इच्छा करता हूं। मार्ग में आते जाते समय भूतकाल में मैंने यदि किसी जीव को दबाया हो, कुचल डाला हो, किसी जीव सहित बीज, हरी वनस्पति, ओस की बूंदे, चींटियों के बिल, पांच वर्ण की फूलन, जीव सहित पानी, जीव सहित मिट्टी-तथा मकड़ियों के जाल आदि को दबाया हो, कुचल डाला हो, जीव हिंसा की हो, किसी एक इन्द्रियवाले, दो इन्द्रियवाले, तीन इन्द्रियवाले, चार इन्द्रियवाले, पाँच इन्द्रियवाले जीव को चोट पहुंचाई हो, उनको धूलि आदि से ढका हो, जमीन पर उनको आपस में मसल कर, इकट्ठा कर, उनका ढेर—समूह किया हो, उनको कष्ट पहुंचाया हो, उनको मृतकवत् कर डाला हो, उनको भयभीत किया हो, उनको एक स्थान से हटाकर दूसरे स्थान में अयत्न पूर्वक रखकर उनका जीवन नष्ट किया हो। इस प्रकार जान में या अनजान में जो भी हिंसा मेरे से हुई हो, पाप कर्म बंधा हो तो उसके लिए मैं हृदय से पश्चात्ताप करता हूं; ताकि उस पाप का फल निष्फल हो सके। ईर्यापथिक सूत्र

विश्व-मैत्री

ईर्यापथिक सूत्र में समता का हृदयग्राही उपदेश है। इसके चिन्तन से हृदय अहिंसा का उपासक बन जाता है। यह वैषम्य के साम्राज्य को उखाड़ फेंकने का अनुपम साधन है। जनसमूह ने मनुष्य के सुखों का ही महत्त्व समझ रक्खा है। मनुष्य के लिये चाहे कितना ही अनर्थ क्यों न कर लिया जाय, वह क्षम्य है। इससे कुछ आगे चलें तो कई विचारकों ने चलते फिरते प्राणियों के प्रति अहिंसा का संकेत किया है परन्तु पृथ्वी—जल-वनस्पति आदि के मूक जीवों के प्रति सबने उदासीनता दिखाई है। इसका परिणाम यह हुआ कि लोगों ने आगे चलकर इनका वध करना सहज एवं प्रकृति-सिद्ध मान लिया। गृहस्थ इनकी हिंसा से सर्वथा विलग नहीं रह सकता—यह निश्चित है, तो भी बिलकुल उपेक्षा रखना अनुचित है। इनकी हिंसा भी हिंसा है। गृहस्थ को चाहिये कि इनकी हिंसा का संकोच करे। प्रयोजन से गृहस्थ को अशक्य कोटि की हिंसा करनी पड़े तो अनर्थ हिंसा से तो दूर रहने की कोशिश करे। गृहस्थ के लिये ईर्यापथिक सूत्र का चिंतन इसीलिए उपयोगी है कि वह एकेन्द्रिय जीवों की अनर्थ हिंसा करने का प्रत्याख्यान करता है और अर्थ हिंसा पर नियन्त्रण करता है। यह समता का बीज है और जगन्मैत्री का अनूठा आदर्श है।

मिच्छामि दुक्कडम्

'मिच्छामि दुक्कडम्' में "मिथ्या मे दुष्कृतम्" ये तीन शब्द हैं। यह साधारण दोषों का प्रायश्चित्त है। इसका अर्थ है—मेरे पाप मिथ्या हों, निष्फल हों। "मिथ्या मे दुष्कृतम्" केवल वाङ् (वचन) मात्र ही नहीं है। यह पाप शुद्धि के लिये रहस्य भरा मन्त्र है। मिथ्या मे दुष्कृतम् में हृदय की शुद्धि भरी पड़ी है।

यद्यपि इसका व्यवहार साधारण से साधारण है तथापि यह एक बड़ी महत्त्व की वस्तु है। मनुष्यों में सबसे बड़ा यह अवगुण होता है कि वह अपने दोष को दोष नहीं समझते। कोई विरला आदमी अपने दोष को दोष जान भी लेता है; तो भी वह दम्भ भरे हृदय से अपने दोष को प्रकट नहीं करता। वे मनुष्य विरले ही होते हैं जो अपने दोष को दोष जान लेते है, सरल हृदय से उसे प्रकट कर देते हैं और उसके प्रायश्चित्तस्वरूप "मिथ्या मे-दुष्कृतम्" के समान सरल और शुद्ध भावना स्वीकार करते हैं। "मिथ्या मे दुष्कृतम्" कहना महान् आत्मा का काम है, सरल हृदय का काम है। कुटिल हृदय 'मिथ्या मे दुष्कृतम्' कदापि नहीं कह सकता। प्रथा के रूपमें या लोक दिखाऊ यदि कह भी दें तो वह शब्दालाप मात्र होगा। "मिथ्या मे दुष्कृतम्" वस्तुतः निजी दोषों के प्रति पश्चात्ताप की भावना से कहना चाहिये। आत्म-दोषों को देखते हुए और उनके प्रति घृणा करते हुए कहना चाहिये। उसी दशा में यह दोषों से मुक्ति पाने में महान् सहायक और एक महा मन्त्र का काम कर सकता है।

## काउस्सग्ग पइन्ना

### कायोत्सर्ग-प्रतिज्ञा

#### मूल पाठ

तस्स उत्तरीकरणेणं पायच्छित्तकरणेणं विसोहिकरणेणं विसल्लीकरणेणं पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए ठामि काउस्सग्गं अन्नत्थ ऊससिएणं, नीससिएणं खासिएणं छीएणं जंभाइएणं उड्डुएणं वायनिसग्गेणं भमलीए पित्तमुच्छाए सुहुमेहिं अंगसंचालेहिं सुहुमेहिं खेलसंचालेहिं सुहुमेहिं दिट्ठिसंचालेहिं एवमाइएहिं आगारेहिं अभग्गो अविराहिओ हुज्ज मे काउस्सग्गो जाव अरिहंताणं भगवंताणं नमुक्कारेणं न पारेमि ताव कायं ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि ।

छाया

तस्य उत्तरीकरणेन प्रायश्चित्तकरणेन विशोधिकरणेन विशल्यीकरणेन पापानां कर्मणां निर्घातनार्थाय तिष्ठामि कायोत्सर्गम् अन्यत्र उच्छ्वसितेन निःश्वसितेन कासितेन क्षतेन जृम्भितेन उद्गारितेन वातनिसर्गेण भ्रमर्या पित्तमूर्च्छया सूक्ष्मैः अङ्गसञ्चालैः सूक्ष्मैः श्लेष्मसञ्चालैः सूक्ष्मैः दृष्टिसञ्चालैः एवमादिभिः आकारैः अभग्नः अविराधितः भवतु मम कायोत्सर्गः यावद् अर्हतां भगवतां नमस्कारेण न पारयामि तावत् कायं स्थानेन मौनेन ध्यानेन आत्मीयं व्युत्सृजामि।

शब्दार्थ

तस्स—उसको

उत्तरीकरणेणं—श्रेष्ठ-उत्कृष्ट बनानेके निमित्त

पायच्छित्तकरणेणं—प्रायश्चित्त—आलोचना करने के लिये

विसोहिकरणेणं—विशेष रूप से शुद्धि करने के लिये

विसल्लीकरणेणं—तीन शल्य का त्याग करने के लिये

पावाणं कम्माणं—पाप-कर्मों का

निग्घायणट्ठाए—नाश करने के लिये

ठामि—करता हूं

काउस्सग्गं—कायोत्सर्ग—ध्यान

अन्नत्थ—इन आगारो के विना

ऊससिएणं—उछ्वास

नीससिएणं—नि.श्वास

खासिएणं—खांसी

छीएणं—छीक

जंभाइएणं—जम्हाई

उड्डुएणं—डकार

वायनिसग्गेणं—अधोवायु

भमलीए—चक्कर

पित्तमुच्छाए—पित्तविकार-जनित मूर्च्छा

सुहुमेहिं—सूक्ष्म, थोड़ा

अङ्गसञ्चालेहिं—अगसंचार

सुहुमेहिं—सूक्ष्म

खेलसंचालेहिं—श्लेष्म, कफसंचार
सुहुमेहिं—सूक्ष्म
दिट्ठिसंचालेहिं—दृष्टिसचार
एवमाइएहिं—इत्यादि
आगारेहिं—आगारोसे
अभग्गो—भंग नही
अविराहिओ—अविराधित, अखण्डित
हुज्ज—हो
मे—मेरा
काउस्सग्गो—ध्यान—कायोत्सर्ग
जाव—जबतक
अरिहंताणं—अरिहंत
भगवंताणं—भगवन्तको
नमुक्कारेणं—नमस्कार करके
न—न
पारेमि—पारू—सम्पूर्ण ध्यान न करूं।
ताव—तब तक
कायं—काया को
ठाणेणं—स्थिर रख कर
मोणेणं—मौन रह कर
झाणेणं—ध्यान धर कर
अप्पाणं—आत्मा को
वोसिरामि—पापमय प्रवृतियो को छोडता हूँ।

भावार्थ

कायोत्सर्ग तितज्ञा

रास्ते में चलते फिरते समय मुझसे जो हिंसा हुई है और उससे जो मेरी आत्मा मलीन हुई है, उसके लिये मैंने 'मिच्छामि दुक्कडं' किया है। परन्तु सिर्फ उससे यदि मेरी आत्मा निर्मल न हुई हो तो आत्मा को अधिक निर्मल करने के लिये प्रायश्चित्त करना परमावश्यक है। प्रायश्चित्त के बिना परिणामों की विशुद्धि हो नहीं सकती। परिणामों की विशुद्धि शल्य का त्याग करने से होती है। शल्यका त्याग एवं पाप कर्मका नाश, कायोत्सर्ग अर्थात् ध्यान से होता है। अतएव मैं कायोत्सर्ग—ध्यान करता हूं। मैं नीचे लिखे आगारों को छोड़ कर, शरीर को स्थिर रक्खूंगा, हिलाऊँगा नहीं। श्वासोछ्वास, खांसी, छींक, जम्हाई, डकार, अधोवायु,

मस्तक आदि में चक्कर, पित्तविकार से मूर्च्छा, अंग का सूक्ष्म संचालन, दृष्टि का संचालन, कफ, थूक आदि का संचार इत्यादि स्वयमेव होने वाली शारीरिक क्रिया के होने पर भी मेरा ध्यान भंग न हो, अखण्ड रहे एवं जबतक अरिहन्त भगवंत को 'णमो अरिहंताण' शब्द से नमस्कार करके ध्यानको पूर्ण न करूं, तबतक शरीर को स्थिर रख कर, वचन से मौन रह कर तथा मन से शुभ ध्यान धर कर मैं अपनी आत्मा को वोसिराता हूं।

कायोत्सर्ग

शरीर की वृत्तियों को स्थिर करने का नाम कायोत्सर्ग है। ध्यान और कायोत्सर्ग में कुछ अन्तर है। ध्यान का मुख्य काम मन को एकाग्र करना है और कायोत्सर्ग का मुख्य काम शरीर की अस्थिरता को रोकना है। गौण रूप से ध्यान और कायोत्सर्ग का पारस्परिक सम्बन्ध है। जैसे ध्यानावस्थामें शरीर को स्थिर करना आवश्यक है और कायोत्सर्ग में मन की एकाग्रता नितान्त वांछनीय है। कायोत्सर्ग में शरीर को अडोल कर दोनों आंखें मूंद कर बिना बोले मानसिक एकाग्रता पूर्वक ईर्यापथिक सूत्र का चिंतन किया जाता है। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तकके जीवों को कष्ट पहुंचाने, भयभीत करने या कुचल डालने आदि कार्यों से जो दोष लगता है उसकी शुद्धिके लिये यह चिंतन प्रायश्चित्तस्वरूप है। कायोत्सर्ग का मुख्यध्येय स्वकृत दोषों का अवलोकन और उनके प्रति प्रायश्चित्त करना है। मन और शरीर का गाढ़ सम्बन्ध है। कायिक चंचलता को स्थिर करनेसे मन शान्त होता है। मन की शान्ति से विचार पवित्र बन जाते हैं। पवित्र विचार से पूर्व कृत दोषों की निवृत्ति हो जाती है। दोष निवृत्ति से आत्मा उज्ज्वल होती है।

'अप्पाणं वोसिरामि'

'अप्पाणं वोसिरामि' का अर्थ है आत्म-व्युत्सर्जन—आत्मा को त्यागना। आत्माको कैसे त्यागा जा सकता है ? वह तो जीव का पर्यायवाची शब्द है। यहां आत्मव्युत्सर्ग से आत्मा का हिंसा आदि असद् आचरणरूप दुष्प्रवृत्ति को त्यागने का अर्थ लेना चाहिये। आत्मा त्यागने योग्य नहीं, आत्मा की दुष्प्रवृत्ति त्याज्य है।

# उक्कित्तणं

उत्कीर्तनं

## चतुर्विंशतिस्तव

चौबीस तीर्थंकरों का स्तवन

मूल पाठ

लोगस्स उज्जोअगरे, धम्मतित्थयरे जिणे।
अरिहंते कित्तइस्स, चउवीसंपि केवली ॥ १ ॥
उसभमजियं च वन्दे, संभवमभिणंदणं च सुमइं च
पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चन्दप्पहं वंदे ॥ २ ॥
सुविहिं च पुप्फदंतं, सीयल सिज्जंस वासुपुज्जं च।
विमलमणंतं च जिणं, धम्मं संतिं च वंदामि ॥ ३ ॥
कुंथुं अरं च मल्लिं, वंदे मुणिसुव्वयं नमिजिणं च।
वंदामि रिट्ठनेमिं, पासं तह वद्धमाणं च ॥४॥
एवं मए अभिथुआ, विहुअरयमला पहीणजरमरणा।

चउवीसंपि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयंतु ॥५॥
कित्तिय*वंदियमहिया, जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा।
आरुग्गबोहिलाभं, समाहिवरमुत्तमं दिंतु ॥६॥
चंदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा,
सागरवरगंभीरा सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥७॥

छाया

लोकस्य उद्द्योतकरान् धर्मतीर्थकरान् जिनान् अरिहन्तान् कीर्तयिष्यामि चतुर्विंशतिम्-अपि-केवलिनः ऋषभम् अजितं च वन्दे सम्भवम् अभिनन्दनं च सुमतिं च पद्मप्रभं सुपार्श्वं जिनं च चन्द्रप्रभं वन्दे सुविधिं च पुष्पदन्तं शीतलश्रेयांसवासुपूज्यान् च विमलम् अनन्तं च जिनं धर्मं शान्तिं च वंदामि कुन्थुम् अरं च मल्लिं वन्दे मुनिसुव्रतं नमिजिनं च वन्दे अरिष्टनेमिं पार्श्वं तथा वर्धमानं च एवं मया अभिष्टुताः विधूतरजोमलाः प्रहीणजरामरणाः चतुर्विंशतिः अपि जिनवराः तीर्थंकराः मम प्रसीदन्तु कीर्तितवन्दित महिताः ये एते लोकस्य उत्तमाः सिद्धाः आरोग्यबोधिलाभं समाधिवरं उत्तमं ददतु चन्द्रेभ्यः निर्मलतराः आदित्येभ्यः अधिकं प्रकाशकराः सागरवरगम्भीराः सिद्धाः सिद्धिं मम दिशन्तु।

---

* कित्तियावंदिया मए इत्यपि पाठः

शब्दार्थ

लोगस्स—लोक में
उज्जोअगरे—उद्योत करनेवाले
धम्मतित्थयरे जिणे—धर्मरूपी तीर्थ को स्थापित करनेवाले,राग-द्वेष जीतनेवाले
अरिहंते कित्तइस्सं—तीर्थंकरों का मैं स्तवन करता हूं।
चउवीसंपि केवली—चौवीस केवली
उसभमजियं च वंदे—ऋषभ को और अजितको वन्दना करता हूं।
संभवमभिणंदणं—सभवनाथ को, अभिनन्दन स्वामी को
च—पुन.
सुमइं च—सुमति नाथ को
पउमप्पहं—पद्मप्रभको
सुपासं—सुपार्श्वनाथ को
जिणं—जिन
च—और
चंदप्पहं वंदे—चंद्रप्रभको वन्दना करता हूं।
सुविहिं च पुप्फदंतं—सुविधिनाथको (दूसरा नाम) पुष्पदंत को
सीयलसिज्जंसवासुपुज्जं—शीतल नाथ को, श्रेयांसनाथको, वासुपूज्य को
च—और
विमलमणंतं—विमलनाथ को और अनन्तनाथ को
च जिणं—जिनको
धम्मं संतिं च वंदामि—धर्मनाथ को, शांतिनाथ को वन्दना करता हूं।
कुंथुं अरं च मल्लिं वंदे—कुंथु-नाथको, अरनाथ को और मल्लिनाथको वन्दना करता हूं।
मुणिसुव्वयं—मुनि सुव्रत को
नमि जिणं—नमिनाथ जिनको
च—और
वंदामि—वन्दना करता हूं।
रिट्ठनेमिं पासंतह वद्धमाणं च—अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ तथा वर्द्धमान-महावीर भगवान्‌को
एवंमए अभिथुआ—इस प्रकार से मेरे द्वारा स्तवन किये गये

विहुअरयमला—पापरूपी रज के मल से रहित
पहीणजरमरणा—जरा-वृद्धावस्था और मरण से मुक्त
चउवीसं पि जिणवरा—चौबीसो जिनवर
तित्थयरा—तीर्थंकर देव
मे—मुझपर
पसीयंतु—प्रसन्न हो
कित्तियवंदियमहिया—कीर्तन, वन्दन औरभाव से पूजन को प्राप्त हुए है
जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा—जो वे लोक के प्रधान सिद्ध है
आरुग्गबोहिलाभं—आरोग्य-सम्यक्त्व का लाभ
समाहिवरमुत्तमंदितु—समाधि का वर उत्तम—श्रेष्ठ दें
चंदेसु निम्मलयरा—चन्द्रों से विशेष निर्मल
आइच्चेसु—सूर्य से
अहियं—अधिक
पयासयरा—प्रकाश करनेवाले
सागरवरगंभीरा—महासमुद्र के समान गभीर
सिद्धा सिद्धिमम दिसंतु—सिद्ध भगवान मुझको मोक्ष देवें।

भावार्थ

चौबीस तीर्थंकरो का स्तवन

लोक में उद्योत—प्रकाश करनेवाले, धर्म रूपी तीर्थ की स्थापना करनेवाले, राग-द्वेष को जीतनेवाले तीर्थंकरों की मैं स्तुति करता हूं। ऐसे तीर्थंकर केवली चौबीस है यथा—श्री ऋषभनाथ, श्री अजितनाथ, श्री संभवनाथ, श्री अभिनन्दन, श्री सुमतिनाथ, श्रीपद्मप्रभ, श्रीसुपार्श्वनाथ, श्रीचन्द्रप्रभ, श्रीसुविधिनाथ, (पुष्पदंत) श्री शीतलनाथ, श्री श्रेयांसनाथ, श्री वासुपूज्य, श्री विमलनाथ, श्री अनंतनाथ, श्री धर्मनाथ, श्री शांतिनाथ श्री कुंथुनाथ, श्री अरनाथ, श्रीमल्लिनाथ, श्री मुनिसुव्रत, श्री नमिनाथ, श्री अरिष्टनेमि, श्री पार्श्वनाथ, श्री वर्द्धमान स्वामी। ये तीर्थंकर कर्म मल रहित

हैं, जरा और मरण से मुक्त है। तीर्थों के प्रवर्त्तक है। ऐसे चौवीस तीर्थंकर मेरे पर प्रसन्न हों। इनकी मैं वचन से कीर्त्ति-प्रशंसा करता हूं, कायासे वन्दना करता हूं, मन से भाव-पूजा करता हूं। ये सम्पूर्ण लोक में उत्तम हैं। ये सिद्ध हो चुके है। ऐसे भगवान् मुझे आरोग्य सम्यक्त्व तथा समाधि का श्रेष्ट वर दें। सिद्ध भगवान् सर्व चन्द्रों से विशेष निर्मल है, सर्व सूर्यों से विशेष प्रकाशमान् हैं। स्वयंभु-रमण नामक महासमुद्र के समान गम्भीर हैं—इनके आलम्बन से मुझे सिद्धि या मोक्ष प्राप्त हो।

एक ओर जैनदर्शन आत्मा को ही कर्त्ता हर्त्ता मानता है। दूसरी ओर, ऐसे भगवान् मुझे आरोग्य, सम्यक्त्व तथा समाधि का श्रेष्ठ वर दें, मुक्त आत्माओं से वरदान की याचना करना सिखाता है, यह विरोधाभास क्यों? यह सत्य है कि जैन दर्शन मुक्त आत्माओं को कर्त्ता नहीं मानता। हम उनसे कोई भी फल-प्राप्ति करवाने की आशा नहीं रखते। मुक्त आत्माएं हमें श्रेष्ट वरदान दें, यह हमारी मंगल कामना है। हम सिद्ध भगवान के आदर्शों को सामने रखकर उनके पद चिह्नों का अनुसरण करते हैं। उनके गुणों की याद करते है। उनकी साधना के आचरण जीवन में उतारने की चेष्टा करते हैं। इस प्रकर वे सिद्ध भगवान् हमारे अभ्युदय के हेतु बनते हैं, अवलम्बन बनते है। सम्यक्त्व और समाधि के लाभ की कर्त्ता तो हमारी आत्मा ही है। लोगस्स

# सक्कथुई

शक्र-स्तुति

नमुत्थुणं अरिहंताणं भगवंताणं । आइगराणं तित्थयराणं सयंसंबुद्धाणं । पुरिसुत्तमाणं पुरिस-सीहाणं पुरिसवरपंडरीयाणं पुरिसवरगंधहत्थीणं । लोगुत्तमाणं लोगनाहाणं लोगहियाणं लोगपईवाणं लोगपज्जोअगराणं । अभयदयाणं चक्खुदयाणं मग्गदयाणं सरणदयाणं बोहिदयाणं । जीवदयाणं धम्मदयाणं धम्मदेसयाणं धम्मनायगाणं धम्म-सारहीणं धम्मवरचउरंतचक्कवट्टीणं । दीवोत्ताणं सरणगइपइट्ठाणं अप्पडिहयवरनाणदंसणधराणं वियट्टछउमाणं जिणाणं जावयाणं तिन्नाणं तारयाणं बुद्धाणं बोहयाणं मुत्ताणं मोअगाणं

सव्वन्नूणं सव्वदरिसीणं सिवमयल-मरुअमणंत-मक्खय-मव्वाबाह-मपुणराविति सिद्धिगइनामधेयं ठाणं ( संपाविउकामाणं ) संपत्ताणं। नमो जिणाणं, जियभयाणं ॥

छाया

नमःअस्तु अरिहन्तृभ्यः भगवद्भ्यः आदिकरेभ्यः तीर्थंकरेभ्यः स्वयंसम्बुद्धेभ्यः पुरुषोत्तमेभ्यः पुरुषसिंहेभ्यः पुरुषवरपुण्डरीकेभ्यः पुरुषवरगन्धहस्तिभ्यः लोकोत्तमेभ्यः लोकनाथेभ्यः लोकहितेभ्यः लोकप्रदीपेभ्यः लोकप्रद्योतकरेभ्यः अभयदयेभ्यः चक्षुर्दयेभ्यः मार्गदयेभ्यः शरणदयेभ्यः बोधिदयेभ्यः जीवदयेभ्यः धर्मदयेभ्यः धर्मदेशकेभ्यः धर्मनायकेभ्यः धर्मसारथिभ्यः धर्मवरचातुरन्त-चक्रवर्त्तिभ्यः द्वीपःत्राणं शरणगतिप्रतिष्ठा अप्रतिहतवरज्ञानदर्शन-धरेभ्यः व्यावृत्तच्छद्मभ्यः जिनेभ्यः जापकेभ्यः तीर्णेभ्यः तारकेभ्यः बुद्धेभ्यः बोधकेभ्यः मुक्तेभ्यः मोचकेभ्यः सर्वज्ञेभ्यः सर्वदर्शिभ्यः शिवम् अचलम् अरुजम् अनन्तम् अक्षयम अव्यावाधम् अपुनरा-वृत्ति सिद्धिगतिनामधेयं स्थानं संप्राप्तुकामेभ्यः संप्राप्तेभ्यः नमः जिनेभ्यः जितभयेभ्यः

शब्दार्थ

नमुत्थुणं—नमस्कार हो
अरिहंताणं—अरिहन्त
भगवंताणं—भगवत को
(वे भगवान कैसे है)
आइगराणं—धर्म के आदि कर्त्ता
तित्थयराणं—धर्मतीर्थ की स्थापना करनेवाले
सयंसंबुद्धाणं—अपने आप बोध को प्राप्त हुए
पुरिसुत्तमाणं—पुरुषो में उत्तम

पुरिससीहाणं—पुरुषों मे सिंह के समान

पुरिसवरपुंडरीयाणं—पुरुषो मे पुण्डरीक कमल के समान निर्लेप

पुरिसवरगंधहत्थीणं—पुरुषो मे प्रधान गंधहस्तीके समान

लोगुत्तमाणं—लोक में उत्तम

लोगनाहाणं—लोक के नाथ

लोगहियाणं—लोकके हितकारी

लोगपईवाणं—लोकमें प्रदीपके समान

लोगपज्जोअगराणं—लोकमें उद्योत करनेवाले

अभयदयाणं—अभयदान देनेवाले

चक्खुदयाणं—ज्ञानरूपी नेत्रो को देनेवाले

मग्गदयाणं—मोक्ष मार्गको देनेवाले

सरणदयाणं—सर्व जीवो के शरण भूत

बोहिदयाणं—बोधि बीजको देनेवाले

जीवदयाणं—संयमरूपी जीवनके दाता

धम्मदयाणं—धर्मके दाता

धम्मदेसयाणं—धर्मोपदेशक

धम्मनायगाणं—धर्मके नायक

धम्मसारहीणं—धर्मरूपी रथ के सारथी

धम्मवरचउरंतचक्कवट्टीणं—धर्ममे प्रधान और चार गति का नाश करनेवाले, अतएव चक्रवर्ती के समान

दीवोत्ताणं—संसार समुद्रमें द्वीप के समान और रक्षक

सरणगइपइट्ठा—आप शरण देने वाले हैं, गति हैं, प्रतिष्ठा हैं

अप्पडिहयवरनाणदंसणधराणं—अप्रतिहत, कही भी स्खलित न हो, ऐसे श्रेष्ठ ज्ञान दर्शनके धरने वाले

वियट्टछउमाणं—छद्म अर्थात् घातिक कर्मों मे रहित

जिणाणं—राग द्वेषको जीतनेवाले

जावयाणं—राग द्वेष को जिताने वाले

तिन्नाणं—संसार समुद्र से स्वयं तरते हुए

तारयाणं—दूसरों को तारनेवाले

बुद्धाणं—स्वयं बुद्ध
बोहयाणं—दूसरोको बोधदेनेवाले
मुत्ताणं—स्वयं कर्मों से मुक्त
मोअगाणं—औरो को कर्म मुक्त करनेवाले
सव्वनूणं—सर्वज्ञ
सव्वदरिसीणं—सर्वदर्शी
शिवं—कल्याण
अयलं—स्थिर
अरुअं—रोगरहित
अणंतं—अनन्त
अव्वाबाहं—अव्यावाध,बाधा पीड़ा रहित
अपुणरावित्तिः—पुनरागन रहित, पुनर्जन्म रहित (ऐसे)
सिद्धिगइनामधेयं—सिद्धि गति नामक स्थान को
ठाणं— स्थान को
संपाविउकामाणं—प्राप्त करने वाले अर्थात् करेंगे
संपत्ताणं—प्राप्त हुए (ऐसे)
नमोजिणाणं—नमस्कार हो जिन भगवान् को
जियभयाणं—भयो को जीतनेवालेको

अर्थ-

मैं अरिहन्त देवों को नमस्कार करता हूं। वे ज्ञानवान् है। धर्म सृष्टि के करने वाले हैं। साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका रूप चार तीर्थों के कर्त्ता हैं। जिन्होंने बिना किसी उपदेश के स्वयं ज्ञान प्राप्त किया है, जो सर्व पुरुषों में उत्तम हैं, सिंह के समान निर्भीक है, कमल के समान सुन्दर, शोभायमान एवं अलिप्त है, लोक के नाथ हैं, लोक के हितकार हैं। जो दीप-ज्योति के समान लोकरूपी हृदयमन्दिर में प्रकाश के करने वाले हैं एवं जो लोक के अज्ञान रूपी अंधकार को नाश करने वाले हैं। जो सर्व जीवों को अभयदान देने वाले हैं, जो ज्ञान-हीन को ज्ञान रूपी चक्षु देने वाले है, जो अच्छे मार्गसे भ्रष्ट हुए लोगों को अच्छा शक्र-स्तुति

मार्ग दिखाने वाले है, जो धर्महीन को धर्मदान देने वाले हैं, जो धर्म के उपदेशक हैं, धर्म के नायक हैं, धर्म रूपी रथके सारथी है, जो धर्म में श्रेष्ठ हैं तथा चक्रवर्त्ती के समान चतुरंत हैं। जिस प्रकार चक्रवर्त्ती चार दिशाओं में विजय प्राप्त करने के कारण चतुरंत कहलाता है उसी प्रकार अरिहन्त चारों गतियों का अन्त कर डालने के कारण चतुरंत कहलाते हैं। संसाररूपी समुद्र में डूबते हुए प्राणियोंके लिये द्वीप के समान सहायक होने से अरिहंत 'द्वीप' हैं। सर्व आपदाओं से रक्षा करनेवाले होने से अरिहंत 'त्राण' हैं। अरिहन्त सम्पत्ति के दातार हैं अतः 'शरण' हैं। कल्याण के लिये आपका आश्रय ग्रहण किया जाता है अतः आप 'गति' हैं। आप में सर्वगुण प्रतिष्ठित हैं अतः आप 'प्रतिष्ठा' हैं। आप केवल-ज्ञान, केवल-दर्शन के धारण करने वाले हैं। आप चार घाति-कर्म रूपी आवरण से रहित हैं। आप स्वयं राग द्वेष को जीतने वाले तथा दूसरों को जितानेवाले हैं। आप स्वयं संसार समुद्र से तरने वाले तथा दूसरों को भी तारने वाले है। आप स्वयं ज्ञानवान् हैं तथा दूसरों को भी ज्ञानवान् करने वाले हैं। आप स्वयं मुक्त हैं तथा दूसरों को भी मुक्त करने वाले है। आप सर्वज्ञ हैं, सर्वदर्शी हैं, उपद्रव रहित, अचलायमान, रोग—व्याधि रहित, अनन्त, अक्षय, बाधा-पीड़ा रहित, पुनर्जन्म रहित मोक्ष को आप प्राप्त करने वाले हैं। सर्व प्रकारके भय को आपने जीत लिया है, ऐसे जिनेश्वर को मैं नमस्कार करता हूं।

विवेचन　सिद्ध भगवान् जहाँ रहते हैं, उसस्थान का नाम सिद्धगति है। सिद्धगति का दूसरा नाम मुक्ति या मोक्ष है। यह स्थान ऊर्ध्व लोक

के अन्त में है। इसके परे अलोकाकाश के सिवाय कुछ नहीं है। सिद्ध भगवान् मुक्त होते ही वहां चले जाते हैं। स्वभाव से ही आत्मा ऊर्ध्वगामी है। कर्म के भार से दबी हुई आत्मा ही तिर्यग् या नीचे जाती है। कर्मभार का दबाव छूटते ही, आत्मा निजी स्वभावानुसार लोक की सीमा तक, जहां तक जा सकती है, चली जाती है। वस्तुतः सिद्धगति या मोक्ष का अर्थ मुक्त आत्मा है। उपचार से मुक्त आत्माओं के रहने के स्थान को भी सिद्धगति, मोक्ष आदि नामों से सम्बोधित करते हैं। मुक्त आत्माओं और उनके रहने के स्थान को एक मान कर ही सिद्ध-गतिके पूर्व शिव, अचल, अरूज, अक्षय, अनन्त, अव्याबाध और अपुनरावृत्ति इतने विशेषण जोड़े हैं। इतने विशेषणों को जोड़ने का मतलब स्वर्ग और मोक्ष का अन्तर दिखलाना है। साधारण लोग स्वर्ग और मोक्ष को एक ही मानते हैं। कोई कोई तो मुक्त आत्माओं को वापिस लौटाने तक का साहस कर बैठते है। उनके निराकरण के लिये इन विशेषणों की सार्थकता है। मुक्त आत्माओं का पुनरावर्त्तन मानना अयुक्त है। पुनर्जन्म सहेतुक है। निर्हेतुक नहीं। पुनर्जन्म का हेतु कर्म है। मुक्त आत्माएँ कर्म का समूल नाश कर डालती हैं 'कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्ष' का अर्थ है सम्पूर्ण कर्मों को क्षय होने से आत्म स्वरूप का प्रकट होना। मुक्त जीव कर्म रहित होते है। कर्मके अभाव से पुनर्भवके अंकुर का रोहण नहीं हो सकता। जैसे—

दग्धे वीजे यथात्यन्तं, प्रादुर्भवति नांकुरः।
कर्मवीजे तथा दग्धे, नरोहति भवांकुर॥

वीज को जलाकर राख कर डालने से अङ्कुर पैदा नहीं होता, उसी प्रकार कर्म वीजके नाश हो जाने से भव-अङ्कुर पैदा नहीं होता।

# पडिक्कमणापडिन्ना

प्रतिक्रमण-प्रतिज्ञा

मूल पाठ

अवस्सही इच्छाकारेण संदिसह भयवं देवसियं पडिक्कमणं ठाएमि देवसिय णाण-दंसण-चरित्ताचरित्त तव-अइयारचिंतवणट्ठं करेमि काउस्सग्गं।

छाया

आवश्यम् इच्छाकारेण संदिशत भगवन् दैवसिकं प्रतिक्रमणं तिष्ठामि दैवसिक-ज्ञान-दर्शन-चरित्राचरित्र-तपोऽतिचारचिन्तनार्थं करोमि कायोत्सर्गम्।

शब्दार्थ

| | |
|---|---|
| आवस्सही—अवश्यमेव | भयवं—हे भगवन्! |
| इच्छकारेण—आपकी इच्छानुसार | देवसियं—मैं दिवस सम्बन्धी |
| | पडिक्कमणं—प्रतिक्रमण |
| संदिसह—आज्ञा दे | ठाएमि—करता हूं |

देवसिय—दिवस सम्बन्धी
णाण-दंसण—ज्ञान दर्शन
चरित्ताचरित्त—चरित्राचरित्र
तव—तप के
अइयारचिंतवणट्ठं—अतिचारोंके चिंतन के लिए
करेमि—करता हूं
काउस्सग्गं—कायोत्सर्ग

भावार्थ

जिन शासन में गुरु को आज्ञा सर्वोच्च है। गुरु के आदेशानुमोदित धर्माचरण निर्विघ्न फलीभूत होते हैं। अतीत दोषों से निवृत्त होने के अवसर पर शिष्य गुरु से प्रार्थना करता है। हे भगवन्! आप मुझे आदेश दें। आपके आदेशानुसार मैं दैनिक अतिचारों से निवृत्त होने के लिए प्रतिक्रमण करूंगा। भगवन्! मैंने आपके आदेश से मोक्ष के साधन ज्ञान, दर्शन और आंशिक रूपेण चारित्र को जीवन में उतारने का प्रयत्न किया है। उनमे कोई अतिचार दोष लगा हो तो उसको मैं याद करूंगा और उसकी शुद्धि के लिये कायोत्सर्ग करूंगा। अर्थात् शरीर को स्थिर बना कर ईर्यापथिक सूत्र का ध्यान कर "मिच्छामि दुक्कड" का प्रायश्चित्त करूंगा।

# अइयार चिन्तन पाठ

अतिचार चिंतन पाठ

मूल पाठ

इच्छामि ठाइउं काउस्सग्गं ( पडिक्कमिउं ) ( आलोइउं ) जो मे देवसिओ अइयारो कओ काइओ वाइओ माणसिओ उस्सुत्तो उमग्गो अकप्पो अकरणिज्जो दुज्झाओ दुव्विचिंत्तिओ अणायारो अणिच्छिअव्वो असावगपाउग्गो नाणे तह दंसणे चरित्ता-चरित्ते सुए सामाइए तिण्हं गुत्तीणं चउण्हं कसायाणं पंचण्हमणुव्वयाणं तिण्हं गुणव्वयाणं चउण्हं सिक्खावयाणं वारसविहस्स सावग धम्मस्स जं खंडियं जं विराहियं तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।

छाया

इच्छामि स्थातुं कायोत्सर्गम् (प्रतिक्रमितुं) (आलोचितुं) यो मया दैवसिकः अतिचारः कृतः कायिकः वाचिकः मानसिकः उत्सूत्रः उन्मार्गः अकल्प्यः अकरणीयः दुर्ध्यातः दुर्विचिन्तितः अनाचारः अनेष्टव्यः अश्रावकप्रायोग्यः ज्ञाने तथा दर्शने चरित्राचरित्रे श्रुते सामायिके तिसृणां गुप्तीनां चतुर्णां कषायाणां पञ्चानामणुव्रतानां त्रयाणां गुणव्रतानां चतुर्णां शिक्षाव्रतानाम् द्वादशविधस्य श्रावक धर्मस्य यत् खण्डितं यद् विराधितं तस्य मिथ्या मे दुष्कृतम्।

शब्दार्थ

इच्छामि—मैं इच्छा करता हूं।
ठाइउं—करनेकी
काउस्सग्गं—कायोत्सर्ग
(पडिक्कमिउं)—आलोचना करने के लिए
(आलोइउं)—दुष्प्रवृत्ति से निवृत्त होने के लिए
जो मे देवसियो—जो मैंने दिवस सम्बन्धी
अइयारो—अतिचार
कओ—किया हो
काइओ—शरीर सम्बन्धी
वाइओ—वचन सम्बन्धी
माणसिओ—मन सम्बन्धी
उस्सुत्तो—सूत्रसे विरुद्ध कथन किया हो।
उम्मग्गो—मार्गसे विरुद्ध कथन किया हो।
अकप्पो—आचार से विरुद्ध काम किया हो।
अकरणिज्जो—न करने योग्य कार्य किया हो।
दुज्झाओ—अशुद्ध ध्यान किया हो।
दुव्विचिन्तिओ—अशुद्ध चिन्तन किया हो।
अणायारो—अनाचार नियमो का सर्वथा भंग किया हो।

अणिच्छिअव्वो—अवाछनीय पदार्थों की इच्छा की हो।
असावग्गपाउग्गो—श्रावक वृत्तिसे अनुचित कार्य किया हो।
नाणे तहा—ज्ञान मे तथा
दंसणे—दर्शन में
चरित्ताचरित्ते—देश विरति मे
सुए—अकाल मे आवश्यक करने मे
सामाइए—सामायिक में
तिण्हं गुत्तीणं—तीन गुप्ति मे
चउण्हं—चार
कसायाणं—कषाय की निवृत्ति मे
पंचण्हमणुव्वयाणं—पाच अणुव्रत मे
तिण्हं—तीन
गुणव्वयाणं—गुणव्रत में
चउण्हं—चार
सिक्खावयाणं—शिक्षाव्रत मे
बारसविहस्स—इस प्रकार बारह व्रतरूप
सावग—श्रावक
धम्मस्स—धर्म का।
जं—जो
खण्डियं—देशत. खण्डन किया हो
जं—जो
विराहियं—सर्वथा विराधना की हो।
तस्स—उसका
मिच्छामि—निष्फल होवे
दुक्कडं—सब पाप

भावार्थ

मैं चित्त एवं शरीर को स्थिर कर अतिचारों की आलोचना करने के लिये, दुष्प्रवृत्तियों से निवृत्त होने के लिये, कायोत्सर्ग करना चाहता हूं। प्रवृत्ति तीन प्रकार की होती है—मन की, वचन की और शरीर की। प्रत्येक प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है—शुभ और अशुभ। हिंसा आदि असद् आचरणों में होने वाली प्रवृत्ति अशुभ कहलाती है और अहिंसा आदि सद् आचरणों मे होने वाली प्रवृति शुभ कहलाती है। साधना की प्रारम्भिक दशा में अशुभ आचरणों का प्रत्याख्यान होता है।

उस प्रत्याख्यान में किसी प्रकार की त्रुटि हो जाती है यानी त्यागे हुए अशुभ आचरणों में प्रवृत्ति होने के लिये तदनुकूल सामग्री जुटाली जाती है। उसकी विशुद्धि के लिये अर्थात् पुनः शुभ आचरणों में प्रवृत्त होने के लिए कायोत्सर्ग करना नितान्त आवश्यक है। मन वचन और शरीर की दुष्प्रवृत्तियों के कितनेक प्रकार निम्न पंक्तियों में बतलाये गये हैं, जैसेः—

१—*उत्सूत्र*—सर्वज्ञ प्रणीत सिद्धान्तोंके प्रतिकूल प्ररूपणा करना। चूंकि ज्ञान अनन्तहै, अल्प बुद्धि में वह सारा का सारा नहीं समा सकता। उस सम्पूर्ण ज्ञान के विना सब पदार्थों का पूरा पूरा ज्ञान नहीं हो सकता। अतएव यह उचित है कि हम सर्वज्ञ-कथित शास्त्रों के अनुसार विश्व-स्थिति को समझें, तर्क को बलवान् बनावें और तदनुकूल आचरण करें।

२—*उन्मार्ग*—उन्मार्ग में प्रवृत्ति करना अर्थात् मोक्ष मार्ग के प्रतिकूल आचरण करना। मोक्ष के चार मार्ग हैं ज्ञान* दर्शन† चारित्र✱ और तपस्या।

३—*अकल्प्य*—श्रावक के आचारके प्रतिकूल काम करना। निरपराधी त्रस जीवों की हिंसा नहीं करना, स्थूल असत्य से निवृत्त होना आदि श्रावक का कल्प है।

४—*अकरणीय*—न करने योग्य कार्य करना। महारंभ और महा परिग्रहवाला काम धंधा करना। जैसे—मांस का व्यापार करना, अनन्तकाय का व्यापार करना आदि श्रावक के लिये अकरणीय है।

---

* जिससे पदार्थों का ज्ञान होता है, जैसे- मति ज्ञान आदि। † सम्यक् तत्त्व रुचि। ✱सावद्य योग का प्रत्याख्यान करना।

५—*दुर्ध्यान*—आर्त्त-रौद्र ध्यान करना। प्रिय का वियोग और अप्रिय का संयोग होने पर प्रिय की प्राप्ति के लिये और अप्रिय के नाश के लिये चिंतन करना आर्त्तध्यान है। हिंसा, झूठ और विषयवासना सम्बन्धी चिन्तन करना रौद्र ध्यान है।

६—*दुर्विचिन्तन*—चित्तसे अशुभ विचार करना। इन अतिचारों में उत्सूत्र, उन्मार्ग, अकल्प्य, अकरणीय ये चार मुख्यतया मन से सम्बन्धित हैं। ये तीनों प्रकार के मानसिक, वाचिक और कायिक, अतिचार श्रावक के लिये योग्य नहीं, अतएव अनाचरणीय और अवांछनीय हैं।

७—*श्रुत*—सूत्र सिद्धान्त।

८—*सामायिक*—देशविरति, या समतारूप। इन सम्बन्धी अतिचार सेवन किया हो, मन, वचन और शरीर को वश में न रखा हो। क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायों का दमन न किया हो। पांच अणुव्रत—स्थूल हिंसा का त्याग, स्थूल असत्य का त्याग, स्थूल चोरी का त्याग, स्थूल मैथुन का त्याग, स्थूल परिग्रह क त्याग। तीन गुणव्रत—दिग्व्रत, उपभोग परिभोग परिमाणव्रत, अनर्थदण्डत्यागव्रत। चार शिक्षाव्रत—सामायिकव्रत, देशावकासिकव्रत, पोषधोपवास व्रत, अतिथिसंविभागव्रत। इस प्रकार श्रावक के बारह व्रतों का आंशिक खण्डन किया हो अथवा पूर्ण विराधन किया हो तो इससे उत्पन्न मेरा सब पाप निष्फल हो।

## ६ ६ अइयारस्स णं

निन्नानवे अतिचार का ध्यान

**ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि ।**

छाया

स्थानेन मौनेन ध्यानेन आत्मानं व्युत्सृजामि ।

मूलार्थ

स्थिर रहकर, मौन रहकर, ध्यान धरकर, आत्मा को—आत्मा की पापमय प्रवृत्तियो को छोड़ता हू ।

आगम तीन प्रकार का कहा है जैसे— ज्ञान के १४ अतिचार

*(१) सूत्रागम*

*(२) अर्थागम*

*(३) शब्द और अर्थ इन दोनों रूप आगम*

ऐसे ज्ञान के अन्दर जो कोई अतिचार-दोष लगा हो उसकी मैं आलोचना करता हूं ।

(१) सूत्र का पठन अस्त-व्यस्त किया हो ।

(२) दूसरा सूत्र साथ में मिलाकर पढा हो।

(३) अक्षरों को छोड़कर पढ़ा हो।

(४) अधिक अक्षर मिलाकर पढ़ा हो।

(५) पदहीन पढ़ा हो।

(६) विनय रहित पढ़ा हो।

(७) स्वर रहित पढ़ा हो।

(८) शुभयोग रहित पढ़ा हो।

(९) भाजन से अधिक ज्ञान दिया हो।

(१०) गुरु ने ज्ञान दिया, उसे उल्टा ग्रहण किया हो।

(११) अकाल में स्वाध्याय किया हो।

(१२) स्वाध्याय के काल (समय) में स्वाध्याय न किया हो।

(१३) अस्वाध्याय में स्वाध्याय किया हो।

(१४) स्वाध्यायमें स्वाध्याय न किया हो।

पढ़ते समय, मनन करते समय या विचार करते समय, ज्ञान की अथवा ज्ञानवंत की आशातना की हो। इत्यादि जो मैंने दिवस सम्बंधी अतिचार किये हों, मेरे वे सब दोष निष्फल हों।

सम्यक्त्व के ५ अतिचार

अरिहन्त मेरे देव हैं। जीवन पर्यंत शुद्ध साधु ( वर्तमान आचार्य श्री तुलसीगणी ) मेरे गुरु है। जिन भाषित संवर निर्जरारूप मेरा धर्म है। यह सम्यक्त्व मैंने ग्रहण किया है। ऐसे सम्यक्त्व में जो कोई अतिचार-दोष लगा हो तो उसकी मैं आलोचना करता हूं।

१ श्री जिनभाषित तत्त्व में शंका की हो।

२ वाह्याडम्बरादि देखकर पर-मत की वांछा की हो।

३ क्रिया के फल में सन्देह किया हो।

४ पर-पाषंड की प्रशंसा की हो।

५ पर-पाषंड से परिचय किया हो।

सम्यक्त्वरूपी रत्न ऊपर मिथ्यात्व रूपी रज-मैल लगा हो, जो मैंने दिवस सम्बन्धी अतिचार-दोष किये हों, मेरे वे सब दोष निष्फल हों।

देश चारित्र के सम्बन्ध में जो कोई अतिचार-दोष लगा हो तो उसकी मैं आलोचना करता हूं।

१—पहिले स्थूल प्राणातिपात-विरमणव्रत में जो कोई अतिचार-दोष लगा हो तो उसकी मैं आलोचना करता हूं।

(क) क्रोधादिवश त्रस जीवों को गाढ़े ( कठिन ) बन्धन से बाधा हो।

(ख) गहरा घाव किया हो।

(ग) अवयव का छेदन किया हो।

(घ) अधिक भार लादा हो।

(ङ) आहार पानी का विच्छेद किया हो।

जो मैंने दिवस सम्बंधी अतिचार-दोष किये हों, मेरे वे सब दोष निष्फल हों।

२—दूसरे स्थूल मृषावाद विरमणव्रत में जो कोई अतिचार-दोष लगा हो उसकी मैं आलोचना करता हूं।

(क) सहसात्कार—किसी के प्रति झूठा कलङ्क लगाया हो।

(ख) रहस्य करते देखकर कलङ्क लगाया हो।

(ग) स्त्री-पुरुष के मर्म प्रगट किये हों।

(घ) मृषा उपदेश दिया हो।

(ङ) झूठे लेख लिखे हों।

जो मैंने दिवस सम्बंधी अतिचार-दोष किये हों, मेरे वे सब दोष निष्फल हों।

३—तीसरे स्थूल अदत्तादान विरमणव्रत में जो कोई अतिचार-दोष लगा हो, उसकी मैं आलोचना करता हूं।

(क) चोर की चुराई हुई वस्तु ली हो।

(ख) चोर को सहायता की हो।

(ग) विरोधी राज्य में व्यापारादि के लिये प्रवेश किया हो।

(घ) झूठा माप-तोल किया हो।

(ङ) सरस वस्तु में निःसार वस्तु मिलाई हो।

जो मैंने दिवस सम्बंधी अतिचार—दोष किये हों, मेरे वे सब दोष निष्फल हों।

४—चौथे स्थूल मैथुन विरमणव्रत में जो कोई अतिचार-दोष लगा हो, उसकी मैं आलोचना करता हूं।

(क) पर स्त्री को भाड़े - किराये आदि के वश करके आलाप-संलाप रूप गमन किया हो। *

(ख) वेश्या आदिके साथ आलाप-संलाप रूप गमनकिया हो।*

(ग) काम-कुचेष्टाएं की हों।

(घ) दूसरों के विवाह करवाये हों।

(ङ) काम-भोग तीव्र अभिलाषा से सेवन किया हो।

जो मैंने दिवस सम्बंधी अतिचार—दोष किये हों—वे सब दोष निष्फल हों।

---

*पहिले तथा दूसरे अतिचार मे श्राविकाओ को निम्नलिखित अतिचार कहना चाहिये—पर-पुरुष के साथ आलाप-सलाप रूप गमन किया हो।

५—पांचवे स्थूल परिग्रहविरमणव्रत में जो कोई अतिचार-दोष लगा हो तो उसकी मैं आलोचना करता हूं—

(क) खेत, घर आदि की मर्यादा का अतिक्रमण किया हो।

(ख) सोने, चांदी की मर्यादा का अतिक्रमण किया हो।

(ग) धन, धान्य की मर्यादा का अतिक्रमण किया हो।

(घ) द्विपद-चौपद की मर्यादा का अतिक्रमण किया हो।

(ङ) सोने, चांदी के सिवाय अन्य धातु अथवा गृह-सामग्री की मर्यादा का अतिक्रमण किया हो।

जो मैंने दिवस सम्बन्धी अतिचार-दोष किये हों। मेरे वे सब दोष निष्फल हों।

६—छट्ठे दिशिव्रत में जो कोई अतिचार-दोष लगा हो, उसकी मैं आलोचना करता हूं।

(क) ऊँची दिशा के परिमाण का अतिक्रमण किया हो।

(ख) नीची दिशा के परिमाण का अतिक्रमण किया हो।

(ग) तिरछी दिशा के परिमाण का अतिक्रमण किया हो।

(घ) एक किसी दिशा परिमाण को बढ़ाया हो।

(ङ) पथ में सन्देह सहित चलकर प्रमाणातिरेक किया हो।

जो मैंने दिवस सम्बन्धी अतिचार-दोष किये हों, मेरे वे सब दोष निष्फल हों।

७—सातवें उपभोग परिभोग परिमाणव्रत में भोजन सम्बन्धी जो कोई अतिचार-दोष लगा हो, उसकी मैं आलोचना करता हूं।

(क) प्रत्याख्यान उपरान्त सचित्त का आहार किया हो।

(ख) सचित्त संयुक्त (अचित्त खजूर फलादि सचित्त गुठली सहित) का आहार किया हो।

(ग) अपक्व धान्यादि का भक्षण किया हो।

(घ) दुष्पक्व धान्यादि का भक्षण किया हो।

(ङ) असार फलादि का भक्षण किया हो।

जो मैंने दिवस सम्बन्धी अतिचार-दोष किये हों, मेरे वे सब दोष निष्फल हों।

पन्द्रह कर्मादान सम्बन्धी जो कोई अतिचार-दोष लगा हो, उसकी मैं आलोचना करता हूं।

(१) इंगालकम्मे, (२) वणकम्मे, (३) साड़ीकम्मे, (४) भाड़ीकम्मे, (५) फोड़ीकम्मे, (६) दंतवणिज्जे, (७) केस वणिज्जे, (८) रसवणिज्जे, (९) लक्ख वणिज्जे, (१०) विष वणिज्जे, (११) जंतपोलणकम्मे, (१२) निल्लंछणकम्मे, (१३) दवग्गिदावणया, (१४) सरदहतलायपरिसोसणया, (१५) असइजणपोसणिया।

जो मैंने दिवससम्बन्धी अतिचार-दोष किये हों, मेरे वे सब दोष निष्फल हों।

८—आठवें अनर्थदंड विरमणव्रत में जो कोई अतिचार-दोष लगा हो तो उसकी मैं आलोचना करता हूं।

(क) कंदर्प सम्बन्धी वार्तालाप किया हो।

(ख) भांड की तरह कुचेष्टाएं की हों।

(ग) बिना प्रयोजन अधिक बोला हो।

(घ) अधिकरण—शस्त्र का जोड़ किया हो।

(ङ) उपभोग परिभोग अधिक बढ़ाया हो।

जो मैंने दिवस सम्बन्धी अतिचार-दोष किये हों, मेरे वे सब दोष निष्फल हों।

९—नवमें सामायिकव्रत में जो कोई अतिचार-दोष लगा हो तो उसकी मैं आलोचना करता हूं।

(क) मनयोग सावद्य कार्यों में प्रवर्ताया हो।

(ख) वचनयोग सावद्य कार्यो में प्रवर्ताया हो।

(ग) कायायोग सावद्य कार्यों में प्रवर्ताया हो।

(घ) सामायिक की सार सम्भाल न की हो।

(ङ) सामायिक का काल पूरा हुए विना समायिक का पारण किया हो।

जो मैंने दिवस सम्बन्धी अतिचार-दोष किये हों। मेरे वे सब दोष निष्फल हों।

१०—दसवें देशावकासिकव्रत में जो कोई अतिचार-दोष लगा हो, उसकी मैं आलोचना करता हूं।

(क) मर्यादित क्षेत्र से बाहरकी वस्तु मंगाई हो।

(ख) मर्यादित क्षेत्र से बाहर वस्तु भेजी हो।

(ग) शब्द के द्वारा भाव प्रदर्शित किये हों।

(घ) रूप दिखाकर भाव प्रदर्शित किये हों।

(ङ) कोई पौद्गलिक वस्तु डाल कर भाव प्रदर्शित किये हों।

जो मैंने दिवस सम्बन्धी अतिचार-दोष किये हों, मेरे वे सब दोष निष्फल हों।

११—ग्यारहवें पौषधव्रत में जो कोई अतिचार दोष लगा हो तो मैं उसकी आलोचना करता हूं।

(क) शय्या-संथारे का प्रतिलेखन नहीं किया हो अथवा असावधानी से किया हो।

(ख) शय्या-संथारेका प्रमार्जन नहीं किया हो अथवा

आसावधानी से किया हो।

(ग) उच्चारप्रसवण भूमि (उत्सर्ग भूमि) का प्रतिलेखन नहीं किया हो अथवा आसावधानी से किया हो।

(घ) उच्चार-प्रसवण भूमिका प्रमार्जन नहीं किया हो अथवा असावधानी से किया हो।

(ङ) पौषधव्रत का सम्यक् प्रकार से पालन न किया हो।

जो मैंने दिवस सम्बंधी अतिचार-दोष किये हों, मेरे वे सब दोष निष्फल हों।

१२—बारहवें यथा-संविभाग व्रत में जो कोई अतिचार-दोष लगा हो तो उसकी मैं आलोचना करता हूं।

(क) सूझती (साधुओंके कल्पनीय) वस्तु सचित्तपर रखी हो।

(ख) अचित्त वस्तु को सचित वस्तु से ढ़क दिया हो।

(ग) काल का अतिक्रमण किया हो।

(घ) अपनी वस्तु को दूसरे की बताया हो।

(ङ) मत्सर भाव से दान दिया हो।

जो मैंने दिवस सम्बंधी अतिचार-दोष किये हों मेरे वे सब दोष निष्फल हों।

संलेखना के सम्बंध में जो कोई अतिचार-दोष लगा हो-उसकी मैं आलोचना करता हूं—

सलेखना के ५ अतिचार

(क) इस लोक सम्बंधी चक्रवर्ती आदि के सुखों की वांछा की हो।

(ख) परलोक सम्बंधी इन्द्रादि के सुखों की वांछा की हो।

(ग) असंयम जीवितव्य की वांछा की हो।

(घ) बालमरण की वांछा की हो।

(ड) काम भोग की वांछा की हो।

जो मैंने दिवस सम्बंधी अतिचार-दोष किये हों मेरे वे सब दोष निष्फल हों।

| | | |
|---|---|---|
| १ प्राणातिपात | १० राग | अठारह पाप स्थानक |
| २ मृषावाद | ११ द्वेष | |
| ३ अदत्तादान | १२ कलह | |
| ४ मैथुन | १३ अभ्याख्यान | |
| ५ परिग्रह | १४ पैशुन्य | |
| ६ क्रोध | १५ परपरिवाद | |
| ७ मान | १६ रति अरति | |
| ८ माया | १७ मायमृषावाद | |
| ९ लोभ | १८ मिथ्यादर्शनशल्य | |

जो मैंने अठारह पाप-सेवन किये हों मेरे वे सब पाप निष्फल हों।

# सुगुरु वन्दण विहि

सुगुरु वदन विधि

मूल पाठ

इच्छामि खमासमणो वंदिउं जावणिज्जाए निसीहिआए अणुज्जाणह मे मिउग्गहं निसीहि अहोकायं कायसंफासं खमणिज्जो भे किलामो अप्पकिलंताणं बहुसुभेण भे दिवसो वइक्कंतो जत्ता भे जावणिज्जं च भे खामेमि खमासमणो देवसियं वइक्कम्मं आवस्सियाए पडिक्कमामि खमासमणाणं देवसिआए आसायणाए तित्तिसन्नयराए जंकिंचि मिच्छाए मणदुक्कडाए वयदुक्कडाए कायदुक्कडाए कोहाए माणाए मायाए लोभाए

सव्वकालियाए सव्वमिच्छोवयराए सव्वधम्माइक्क-मणाए आसायणाए जो मे अइयारो कओ तस्स खमासमणो पडिक्कमामि निन्दामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ।

छाया

इच्छामि क्षमाश्रमण ! वन्दितुं यापनीयया नैषेधिक्या अनु-जानीत मम मितावग्रहम् निषेधी अधः कायं कायसंस्पर्शम् क्षमणीयः भवद्भिः क्लामः अल्पक्लान्तानां बहुशुभेन भवतां दिवसो व्यतिक्रान्तः यात्रा भवताम् यापनीयं च भवताम् क्षमयामि क्षमाश्रमण दैवसिकम् व्यतिक्रमम् आवश्यक्या प्रतिक्रामामि क्षमाश्रमणानां दैवसिक्या अशातनया त्रयस्त्रिंशदन्यतरया यत्किञ्चिन्मिथ्यया मनोदुष्कृतया वचोदुष्कृतया कायदुष्कृतया सर्वमिथ्योपचारया सर्वधर्मातिक्रम-णया आशातनया यो मया अतिचारः कृतः तं क्षमाश्रमण ! प्रति-क्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि ।

शब्दार्थ

| | |
|---|---|
| इच्छामि—मैं इच्छा करता हूं । | अणुजाणह—आदेश दे |
| खमासमणो—हे क्षमावान् श्रमण ! | मे—मुझे |
| वंदिउं—वन्दना करने की | मिउग्गहं—परिमित स्थान में प्रवेश करने का। |
| जावणिज्जाए—शक्ति के अनुसार | |
| निसीहिआए—शरीर को पाप क्रिया से हटाकर | निसीहि—पाप क्रिया को रोकनेवाला |

अहोकायं—मैं आपके चरण का
कायसंफासं—मेरे शरीर से—
मस्तक से स्पर्श करता हूं।
खमणिज्जो—आप क्षमा करने योग्य हैं अतः क्षमा करें
भे—आपको
किलामो—क्लाम अर्थात् कष्ट हुआ तो
अप्पकिलंताणं—अग्लान अवस्था मे रहकर
बहुसुभेण—बहुत शुभ क्रिया से
भे—आपने
दिवसो—दिवस
वइक्कंतो—विताया
जता—सयमरूपी यात्रा
भे—निर्बाध है आपकी
जावणिज्जं—शरीर मन तथा इन्द्रियो की पीडा से रहित है।
च—और
भे—आपको
खामेमि—खमाता हूं।
खमासमणो—हे क्षमाश्रमण!
देवसियं—दिवस सम्बन्धी
वइक्कम्मं—अपराध को
आवस्सियाए—आवश्यक क्रिया के करनेमें जो विपरीत आचरण हुआ हो उससे
पडिक्कमामि—निवृत्त होता हू।
खमासमणाणं—आप, क्षमाश्रमण की
देवसिआए—दिवस सम्बन्धी
आसायणाए—आशातना से
तित्तिसन्नयराए—तेतीस में से किसीसे भी
जं किंचि—और जो कोई
मिच्छाए—मिथ्या भावसे की हुई
मणदुक्कडाए—दुष्ट मनसे की हुई
वयदुक्कडाए—दुष्ट वचनसे की हुई
कायदुक्कडाए—शरीर की दु चेष्टा से की हुई
कोहाए—क्रोध से की हुई
माणाए—मान से की हुई
मायाए—माया से की हुई
लोभाए—लोभ से की हुई
सव्वकालियाए—सर्वकाल सम्बन्धी
सव्वमिच्छोवयराए—सब प्रकार के मिथ्या आचरणो से परिपूर्ण

सव्वधम्माइक्कमणाए—सर्वप्रकार के धर्म का उल्लघन करनेवाली
आसायणाए—आशातना से
जो—जो
मे—मुझसे
अइयारो—अतिचार
कओ—किया गया है।
तस्स—उसे
खमासमणो—हे क्षमाश्रमण !
पडिक्कमामि—निवृत्त होता हूं।
निन्दामि—उसकी निन्दा करता हूं।
गरिहामि—गुरु साक्षी से गर्हा करता हूं।
अप्पाणं—आत्माके सावद्य व्यापारको
वोसिरामि—त्यागता हूं।

भावार्थ

गुरु के प्रति शिष्य का कैसा वर्तावं होना चाहिये, इसका क्षमाश्रमणसूत्र में सुन्दरतम उपदेश है। हम इसके अनुसार चलकर अपने जीवन को नम्र और आदर्श बना सकते हैं। नम्र जीवन एकान्त सुन्दर होता है। अहंकार भावना से जीवन कुटिल और अमिलनसार बन जाता है। हमें निजी आचरणों को सरल बनाना चाहिए, यही इसे पढने का लाभ है। शिष्य गुरु के न अति निकट और न अति दूर खड़ा रहकर गुरुसे प्रार्थना करता है। हे क्षमा श्रमण ! मैं मेरे शरीर को पाप-क्रिया से हटाकर आपको वन्दना करना चाहता हूं। इसलिये आप मुझे आपके चारों ओर शरीरप्रमाण क्षेत्रमें, आपका जो स्थान निर्धारित है, उसमें प्रवेश करने की आज्ञा दें। (गुरु के समीप जाने के लिये गुरु का आदेश लेना शिष्य का कर्त्तव्य है) गुरु शिष्यकी विनीत भावना को देखकर उसे वन्दना करने की आज्ञा देते हैं। तब शिष्य वहां उपस्थित होकर फिर गुरुसे प्रार्थना करता है —प्रभो !

आप मुझे आज्ञा दें, मैं आपके चरणका मस्तकसे स्पर्श करूं। ( गुरु की आज्ञा लेकर गुरु के चरणों को सिर से स्पर्श करता है ) चरण-स्पर्श करने के बाद गुरु से क्षमा-याचना करता है। हे गुरुदेव! आपके चरणों को छूने से आपको कष्ट पहुंचा हो तो मैं आपका क्षमा-प्रार्थी हूं।

शिष्य—क्या आपने अग्लान अवस्था में रहकर बहुत शुभ क्रियापूर्वक दिन बिताया ?

गुरु—हां, मैंने दिन को शुभ अनुष्ठान से सफल किया है।

शिष्य—आपकी संयम यात्रा सब प्रकार की बाधाओं से रहित है ? आपका शरीर मन की चंचलता और इन्द्रियों के विकारों से अबाधित है ?

इसके बाद शिष्य अपने अपराध की क्षमा-याचना करता हुआ कहता है—हे क्षमा श्रमण! दिन में या रात में, जान में या अनजान में आपका कोई भी अपराध किया हो तो उसके लिये आप मुझे क्षमा करें। भगवन्! आप मुझे आज्ञा दें—अपनी आवश्यक क्रियाओं के प्रतिकूल जो कोई आचरण किया हो उससे मैं निवृत्त होऊँ ( विशेष आग्रह पूर्वक ) हे क्षमाश्रमण! आपकी तेतीस प्रकार की आशातनाओं में कोई भी दिन-सम्बन्धी या रात्रि-सम्बन्धी आशातना से मैंने अतिचार सेवन किया हो तो उससे मैं निवृत्त होता हूं। अविनय होने के कारणों का उल्लेख करता हुआ शिष्य कहता है—प्रभो! अविनय होने के इतने कारण हैं—मिथ्या भावना, मन की बुरी प्रवृत्ति, शरीर की बुरी प्रवृत्ति, क्रोध, अहंकार, छल, कपट, लोभ, आसक्ति। इन कारणों में से किसी भी कारण से मैंने आपका अविनय किया हो तो

उससे मैं निवृत्त होता हूं। एव दिन या रात किसी भी क्षण मे वर्तमान, भूत या भविष्य में ( भविष्य में गुरु के अनिष्ट करने का संकल्प कर लेना ) सब प्रकार के मिथ्याचरणों से होने वाली या सब प्रकार के धर्म का अतिक्रमण करने वाली आशातना के द्वारा मैंने जो कोई अतिचार सेवन किया हो तो उससे भी मैं निवृत्त होता हूं और इस प्रकार दृढ़ संकल्प करता हूं कि भविष्य में कोई आशातना नहीं करूंगा। अतीत में मैंने जो कुछ अति-चार सेवन किया, उसकी मैं निन्दा करता हूं, गर्हा करता हूं यानी विशेषरूप से निन्दा करता हूं।

# तस्स सव्वस्स पाठ

मूल पाठ]

तस्स सव्वस्स देवसियस्स अइयारस्स दुच्चिंतिय दुब्भासिय दुच्चिट्ठियस्स आलोयंतो पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ॥

छाया

तस्य सर्वस्य दैवसिकस्य अतिचारस्य दुश्चिन्तित दुर्भाषित दुःस्थितस्य आलोचयन् प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि ।

शब्दार्थ

तस्स —उस

सव्वस्स—सभी

देवसियस्स—दिवस सम्बन्धी

अइयारस्स—अतिचार की

दुच्चिंतिय—दुष्ट विचार
दुब्भासिय—दुर्वचन
दुचिट्ठियस्स—शरीरकी कुचेष्टारूप
आलोयंतो—आलोचना करता हुआ
पडिक्कमामि—निवृत्त होता हूं।
निन्दामि—आत्म-निन्दा करता हूं।
गरिहामि—गुरुसाक्षी से गर्हा करता हूं।
अप्पाणं—पापकारी आत्मा को
वोसिरामि—त्यागता हूं।

भावार्थ

मन में बुरे विचार कर, बुरे वचन बोल कर एवं शरीर की पापकारी प्रवृत्ति कर जो दिन में अतिचार किये हों, उन सब की आलोचना करता हुआ निवृत्त होता हूं। आत्मा की निन्दा करता हूं, गर्हा करता हूं। पापमय आचरणों को त्यागता हूं।

मानव मन की वृत्तियों का दास होता है। मन पर विजय पानेवाला मनुष्य वचन और शरीर पर सहज ही विजय पा लेता है। वचन और शरीर की दुष्प्रवृत्तियों मे मन का बड़ा हाथ है। अतएव मन का स्थान सबसे पहला है। वचन और शरीर उसके अनुगामी है। यद्यपि तत्त्वतः इन तीनोंकी प्रवृत्तियां स्वतन्त्र है; तथापि बहुधा एक का दूसरे पर असर होता है। इन तीनों में एक की या तीनों की दुष्प्रवृत्तियों से जो अतिचार-दोष लगता है—उसकी शुद्धि के तीन साधन बतलाये है:—

(१) *आत्मनिन्दा*

(२) *आत्मगर्हा*

(३) *दुष्प्रवृत्ति का प्रत्याख्यान*

अपने अवगुणों की निन्दा करना बड़ा कठिन है। गुरु के समक्ष आत्म-दोषों को प्रकट करना उससे भी कठिन है। आत्म-

दुष्कार्यों का निरोध तो सबसे कठिन है। आत्म-निन्दा और आत्म-गर्हा से भाव शुद्ध होते हैं। शुद्ध भावना से कर्ममल दूर होते हैं और आत्मा पूर्वकृत दोषों से निवृत्त हो जाती है। इस प्रकार ये दोनों अतीत दोषों की शुद्धि के उपाय हैं। दुष्प्रवृत्ति का प्रत्याख्यान करना, वर्तमान और भविष्य में लगनेवाले दोषों से पृथक् रहने के उपाय हैं। अतीत दोषों का प्रायश्चित्त करना, वर्तमान और भविष्य के दोषों का निरोध करना ही आत्म-शुद्धि का श्रेष्ठ उपाय है।

## चत्तारि मंगलं

चार मगल

मूल पाठ

चत्तारि मंगलं—अरिहन्ता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं, केवलिपन्नतो धम्मो मंगलं, चत्तारि लोगुत्तमा—अरिहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलिपन्नतो धम्मो लोगुत्तमा, चत्तारि सरणं पवज्जामि, अरिहंता सरणं पवज्जामि, सिद्धा सरणं पवज्जामि—साहू सरणं पवज्जामि, केवलिपन्नतं धम्मं सरणं पवज्जामि।

छाया

चत्वारो मङ्गलम्—अर्हन्तो मङ्गलम्, सिद्धाः मङ्गलम्, साधवो मङ्गलम्, केवलिप्रज्ञप्तो धर्मोमङ्गलम्, चत्वारो लोकोत्तमाः—अर्हन्तो लोकोत्तमाः, सिद्धाः लोकोत्तमाः, साधवो लोकोत्तमाः, केवलिप्रज्ञप्तो धर्मोलोकोत्तमः चतुरः शरणं प्रपद्ये, अर्हतः शरणं प्रपद्ये सिद्धान् शरणं प्रपद्ये साधून् शरणं प्रपद्ये, केवलिप्रज्ञप्तंधर्मं शरणं प्रपद्ये।

शब्दार्थ

चत्तारि मंगलं—चार मगल है
अरिहंता मंगलं—अरिहत मगल
सिद्धा मंगलं—सिद्ध मगल
साहू मंगलं—साधु मंगल
केवलिपन्नतो—केवली-कथित
धम्मो मंगलं—धर्म मगल
चत्तारि लोगुत्तमा—चार पदार्थ लोकमे उत्तम हैं।
अरिहंता लोगुत्तमा—अरिहन्त लोकोत्तम
सिद्धा लोगुत्तमा—सिद्ध लोकोत्तम
साहू लोगुत्तमा—साधु लोकोत्तम
केवलिपन्नतो—केवली-कथित
धम्मो लोगुत्तमा—धर्म लोकोत्तम
चत्तारि सरणं पवज्जामि—चार शरण को ग्रहण करता हूँ।
अरिहंता सरणं पवज्जामि—अरिहतकी शरण ग्रहण करता हूँ।
सिद्धा सरणं पवज्जामि—सिद्ध भगवान्‌की शरण ग्रहण करता हूँ।
साहू सरणं पवज्जामि—साधुवर्ग की शरण ग्रहण करता हूँ।
केवलिपन्नतं—केवली-कथित
धम्मं सरणं पवज्जामि—धर्मकी शरण ग्रहण करता हूँ।

मगल

मङ्गल का अर्थ है विघ्न का नाश करना। विघ्न होने का हेतु कर्मफल है। कर्मोदय होने के कारण ही यथेष्ट सिद्धि में बाधायें उपस्थित होती हैं। विशुद्ध आत्माओं का स्मरण, उपासना एवं विशुद्ध आचरण कर्मसमूहों का क्षय करने वाले हैं। अतः यह मंगल है।

मगल के दो प्रकार

मंगल दो प्रकार के होते है द्रव्य मंगल और भाव मंगल। गुण शून्य मंगल को द्रव्य मंगल कहते हैं। यह वस्तुतः मंगल नहीं, केवल उपचार मात्र है। जैसे—दूर्वा, रोली आदि पदार्थ लोक-दृष्टि से मंगल माने जाते हैं। भाव मंगल से सगुण मंगल का तात्पर्य है; यह परमार्थ रूप से मंगल है।

अरिहन्त, सिद्ध, साधु और केवलीभाषितधर्म मंगल क्यों है, यह तो स्पष्ट ही है, क्योंकि अरिहंत संयमी होते हैं और घाति कर्मों से रहित होते है, सिद्ध सब कर्मों से रहित होते हैं। साधु छः जीवकाय के रक्षक तथा संयमी होते हैं। इनकी उपासना से या स्मृति से कर्मक्षय होता है अतः यह मंगल हैं। यह मंगल क्यो ?

धर्म संवर या निर्जरा रूप है। संवर कर्म-निषेध करने वाली आत्मा की अवस्था है और निर्जरा बंधे हुए कर्मों को तोड़ने वाली शुभ प्रवृत्ति-रूप आत्मा की अवस्था है। संवर से कर्म का निरोध होता है एवं निर्जरा से आत्मा उज्ज्वल होती है। अतएव धर्म मङ्गल है।

ये सब मङ्गल करने वाले हैं, इसीलिये लोक में उत्तम हैं, और लोक में उत्तम है, इसीलिये इनकी शरण ग्राह्य है। एक छोटे से दोहे में कहा है—

ए चारों शरणा समा, और न सगो कोय।
जे भवी प्राणी आदरे, अक्षय अमर पद होय॥

# नाणाइयारे पाठ

### ज्ञानातिचार पाठ

### मूल पाठ

आगमे तिविहे पन्नते। तंजहा सुत्तागमे, अत्थागमे, तदुभयागमे। एअस्स सिरिनाणस्स जो मे अइयारो कओ तं आलोएमि।

जंवाइद्धं, वच्चामेलियं, हीणक्खरियं, अच्चक्खरियं, पयहीणं, विणयहीणं घोसहीणं, जोगहीणं, सुट्ठुदिन्नं, दुट्ठुपडिच्छियं, अकाले कओ सज्झाओ, काले न कओ सज्झाओ, असज्झाए सज्झाइअं, सज्झाए न सज्झाइअं, जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुकडं।

छाया

आगमः त्रिविधः प्रज्ञप्तः। तद्यथा सूत्रागमः अर्थागमः तदुभयागमः। एतस्य श्री ज्ञानस्य यो मया अतिचारः कृतः तं आलोचयामि व्याविद्धं-व्यत्याम्रेडितं,हीनाक्षरिकम्,अत्यक्षरिकम्,पदहीनं, विनयहीनं, घोषहीनं, योगहीनं, सुष्ठुदत्तं, दुष्ठुप्रतीच्छितं, अकाले कृतः स्वाध्यायः, काले न कृतः स्वाध्यायः, अस्वाध्याये स्वाध्यायितं-स्वाध्याये न स्वाध्यायितं, यो मया दैवसिकः अतिचारः कृतः तस्य मिथ्या मे दुष्कृतम्

शब्दार्थ

आगमे—आगम
तिविहे—तीन प्रकार का
पन्नत्ते—कहा है
तंजहा—जैसे
सुत्तागमे—(१) सूत्रागम—मूल-पाठ रूप या शब्दरूप आगम
अत्थागमे—(२) अर्थागम—अर्थरूप आगम
तदुभयागमे—शब्द और अर्थ इन दोनो रूप आगम
एअस्स—इस
सिरिनाणस्स—श्रीयुत आगम का
जो—जो
मे—मैंने
अइयारो—अतिचार
कओ—किया हो तो
तं—उसकी
आलोएमि—आलोचना करता हू।
वंवाइद्धं—सूत्र के पाठ उलट पलट पढे हो।
वच्चामेलियं—सूत्र के पाठ के साथ दूसरे पाठ जोड़ कर पढें हो।
हीणक्खरियं—हीन अक्षरयुक्त सूत्र पाठ पढे हो।
अच्चक्खरियं—अधिक अक्षरयुक्त पाठ पढे हो।
पयहीणं—पदहीन सूत्र पाठ पढे हो।
विणयहीणं—विनय रहित पठन किया हो।
घोसहीणं—घोषहीन पढ़ा हो।

जोगहीणं—योग रहित पढा हो।
सुट्ठुदिन्नं—अयोग्य को अधिक ज्ञान दिया हो।
दुट्ठुपडिच्छियं—गुरु से प्राप्त ज्ञान विपरीत रूपसे ग्रहण किया हो।
अकाले—अकाल मे
कओ—किया हो।
सज्झाओ—स्वाध्याय
काले न—काल मे नही
कओ—किया हो।
सज्झाओ—स्वाध्याय
असज्झाए—अस्वाध्याय काल में
न सज्झाइयं—न स्वाध्याय किया हो।
जो मे—जो मैंने
देवसिओ—दिवस सम्बन्धी
अइयारो—अतिचार
कओ—किया हो।
तस्स—उसका
मिच्छामि—निष्फल हो।
दुक्कडं—पाप

भावार्थ

ज्ञान "रसायनमनौषधम्", बिना औषध का रसायन है। औपधि में केवल दैहिक रोगों को मिटाने की क्षमता है। ज्ञान मानसिक रोगों का भी नाशक है। शरीर-रोग तो मानसिक विकारों के अभाव में स्वतः ही नामशेष हो जाते हैं। ज्ञान विशुद्ध जीवन का निर्माता और सद्आचरणों का दर्शक है। ज्ञान के विना सत् क्रियाओं का पूरा पूरा भान नहीं हो सकता। ज्ञान कहीं दूसरी जगहों से नहीं आता है। वह हमारी आत्मा का गुण है। आगम-सिद्धान्त हमारे ज्ञान को जागृत करने का साधन है। सिद्धान्त के अनुसार हम सद्भावनाओं को वलवान् बना सकते हैं। अतः सिद्धान्त का स्थान हमारी दृष्टि में अति महत्त्वपूर्ण है। हमारे लक्ष्यभूत सिद्धान्त, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी भगवान् महावीर के विचार हैं और सुधर्मा स्वामी का गुम्फन

है। दूसरे शब्दों में भगवान् महावीर के स्पष्ट अर्थ सुधर्मा स्वामी द्वारा संकलित किये हुए है। सूत्र के मूल पाठों का अध्ययन करना सिद्धान्त-पठन है। अर्थ का और इन दोनों (सूत्र और अर्थ) का अध्ययन करना भी सिद्धान्त-पठन है। सिद्धान्त-पठन के सम्बन्ध में जो चवदह बातें वर्जनीय हैं, उनका इस ज्ञानातिचार सूत्र मे स्पष्ट उल्लेख है।

(१) सूत्र के शब्द और वाक्य जिस प्रकार हैं, उनको अंट-संट ढंग से पढ़ाना प्रथम ज्ञानातिचार है।

(२) अपनी बुद्धि से बनाये हुए पाठों का प्रक्षेप कर सूत्र पढ़ना दूसरा ज्ञानातिचार है। चूंकि इससे सिद्धान्त की प्रामाणिकता मे बाधा आ आती है।

(३) अक्षरों को छोड़ कर सूत्र पढ़ना तीसरा ज्ञानातिचार है। क्योंकि अक्षरों को छोड़कर पढ़ने से उसका अर्थ ही समझ में नहीं आ सकता, और उसका स्वरूप भी विकृत हो जाता है।

(४) अधिक अक्षरों को जोड़ कर सूत्र पढ़ना चौथा ज्ञानातिचार है।

(५) पदों को छोड़ कर सूत्र पढ़ना पांचवां ज्ञानातिचार है। विभक्ति अन्तवाले शब्दों को पद कहते हैं। यथा "लोगस्स" यह षष्ठी विभक्ति अन्तपद है। विभक्ति का अर्थ विभाग है। इससे एक शब्द से दूसरे शब्द का और एक अर्थ से दूसरे अर्थ का विभाजन होता है। लोगस्स यह लोक शब्द के अन्त मे षष्ठी विभक्ति है। इसका अर्थ है लोक का। 'उज्जोयगरे' यह द्वितीया विभक्ति है, इसकाअर्थ है उद्योत करने वालों को। पदों को यथावत् न पढ़ने से सूत्र-अर्थ का विपर्यास हो जाता है।

(६) विनयहीन—छट्ठा ज्ञानातिचार है।

(७) घोषहीन—सातवां ज्ञानातिचार हैं।

(८) योगहीन—आठवां ज्ञानातिचार है।

विनय का अर्थ है आशातना को वर्जना या भक्ति-बहुमान करना।

घोष—उदात्त-अनुदात्त आदि व्याकरण निर्दिष्ट स्वरों के उच्चारण हैं। जैसे किसी स्वर को धीमे बोलना और किसी को जोर से बोलना इत्यादि।

योग—मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति करना। (योग रहित से शुभयोग रहित सूत्र पढ़ने का तात्पर्य है)।

(९) अल्पज्ञान के योग्य व्यक्ति को अधिक ज्ञान सिखाना नौवां अतिचार है। इस विषय में कई लोगों को सन्देह रहता है कि अयोग्य को ज्ञान देना अतिचार क्यों? अयोग्य व्यक्ति भी ज्ञान देने से योग्य बन सकते हैं। ज्ञान के अभाव में तो सब अयोग्य ही होते हैं। इसका उत्तर यह है, कम ज्ञान वाले अयोग्य होते हैं, और अधिक ज्ञान वाले योग्य होते हैं, यह मानना अनुचित है। योग्यता और अयोग्यता सिर्फ ज्ञान पर ही निर्भर नहीं, इनकी कसौटी पुरुष की सद्-भावना, सद्विवेक और ज्ञान का सदुपयोग है। जो पुरुष अविनीत, उच्छृङ्खल और अविवेकी होता है तथा दुर्भावना को फलित करना ही जिसका एकमात्र ज्ञान पढ़ने का लक्ष्य रहता है, वह ज्ञान का अपात्र है। इसप्रकार के पुरुष को ज्ञान देना सांप को दूध पिलाने वाली लोकोक्ति को चरितार्थ करना है। अयोग्य के हृदय में अधिक ज्ञान समा नहीं सकता। वह किसी न किसी रूप में उसका दुरुपयोग कर ही

डालता है, जिससे न केवल उसकी ही अवगणना होती है, अपितु ज्ञान और ज्ञानदाता की भी भर्त्सना होती है। अतः पात्रापात्र परीक्षापूर्वक ज्ञान देना सर्वथा उचित और सद्विवेकपूर्ण कार्य है।

(१०) गुरु के दिये हुए ज्ञान को प्रतिकूल बुद्धि से लेना दसवा ज्ञानातिचार है।

(११) अकाल मे स्वाध्याय करना

(१२) काल मे स्वाध्याय न करना।

(१३) अस्वाध्याय में स्वाध्याय करना।

(१४) स्वाध्याय मे स्वाध्याय न करना।

क्रमशः ११, १२, १३, १४, ज्ञानातिचार है। उक्त रीत्या चवदह प्रकार से ज्ञान पढ़ने में जो अतिचार सेवन किया हो तो उस सम्बन्धी मेरे सब पाप निष्फल हों।

## दंसण सरूवं अइयारे

दर्शन-स्वरूप अतिचार

मूल पाठ

अरिहंतो महदेवो, जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो।
जिणपण्णत्तं तत्तं, इय सम्मतं मए गहियं।

एअस्स सम्मत्तस्स समणोवासएणं पंच अइयारा पेयाला जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा १ संका २ कंखा ३ वितिगिच्छा ४ परपासंडिपसंसा ५ परपासंडिसंथवो जो मे देवसिओ अइआरो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

छाया

अर्हन् मम देव:, यावज्जीवं सुसाधवो गुरवः;
जिनप्रज्ञप्तं तत्त्वम्, इति सम्यक्त्वं मया गृहीतम्।

एतस्य सम्यक्त्वस्य श्रमणोपासकैः पञ्च अतिचाराः प्रधानाः ज्ञातव्याः न समाचरितव्याः तद्यथा शंका काङ्क्षा विचिकित्सा परपाषण्डिप्रशंसा परपाषण्डिसंस्तवः यो मया दैवसिकः अतिचारः कृतः तस्य मिथ्या मे दुष्कृतम्।

शब्दार्थ

अरिहंतो महदेवो—अरिहत भगवान् मेरे देव है।
जावज्जीवं—जीवन पर्यन्त
सुसाहुणो गुरुणो—उत्तम साधु गुरु है
जिणपण्णत्तं—जिन—केवली प्ररूपित
तत्तं—तत्त्व धर्म है
इय सम्मतं—इस समयक्त्व को
मए गहियं ?—मैंने ग्रहण किया है
एअस्स—इस
सम्मत्तस्स—सम्यकत्व के
समणोवासएणं—श्रमणोपासक को
पंच अइयारा—पाच अतिचार
पेयाला—प्रधान
जाणियव्वा—जानने चाहिये
न—नही।
समायरियव्वा—आचरण करना चाहिए
तंजहा—वे इस प्रकार है
संका—केवली के वचनो में शका करना
कंखा—अवीतराग-कथित मार्गकी वाछा करना
वितिगिच्छा—धर्म के फल में सदेह करना
परपासंडिपसंसा—परपाषडी की प्रशसा करना
परपासंडिसंथवो—परपाषंडी का परिचय करना
जो मे—जो मैंने (इस सम्बन्ध में)
देवसियो—दैवसिक
अइयारो—अतिचार
कओ—किया हो
तस्स—उसका
मिच्छामि दुक्कडं—पाप मेरे लिये निष्फल हो।

## भावार्थ

सम्यक्त्व जैन दर्शन में सम्यक्त्व का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मोक्ष के चार मार्ग बतलाये गये हैं। उनमें इसका स्थान सबसे पहला है। वस्तुतः होना ही चाहिये। क्योंकि जबतक हमारा कोई एक निश्चित लक्ष्य नहीं बनता तबतक हम कुछ भी नहीं कर सकते। सम्यक्त्व जैन दृष्टिकोण का स्थिरलक्ष्य या मध्यबिन्दु है। इसी के सहारे मुमुक्षु पुरुष आत्म-साधना की ओर अग्रसर होते हैं। कोई पुरुष आत्म-मुक्ति के लिए जो आचार पालना चाहें, उसमें उसका विश्वास ही नहीं, तो वह उस दिशा में सफल नहीं हो सकता। यह एक अकाट्य नियम है कि हम वही काम करना चाहेंगे कि जिसमें हमारी रुचि पैदा हुई, एवं जिसमें हमारा विश्वास है। बिना इनके प्रथम तो हम कोई काम कर ही नहीं सकते, और यदि परिस्थितियों के कारण करना पड़े तो उसमें सफलता नहीं मिल सकती। अतएव सर्व प्रथम हमारा यह कर्त्तव्य हो जाता है कि हम जो करना चाहें, उसमें पहले रुचि एवं विश्वास पैदा करें और बाद में उसमें जुट जायं। सम्यकत्व ठीक यही चीज है। आत्म-साधक का जो सही लक्ष्य एवं सत्यमें विश्वास है, वही सम्यक्त्व है। आत्म-साधक का लक्ष्य आत्म-मुक्ति होता है। अगर उसे आत्मा एवं मुक्ति में विश्वास न हो तो वह आत्म-साधना क्यों करे; इसलिए सर्वप्रथम आत्मादि तत्त्वों पर यथार्थ विश्वास होना चाहिये। इसके बाद आत्म-मुक्तिके जो उपाय है; जिन्हें धर्म कहते हैं, उन पर सही श्रद्धा होनी चाहिये। सबके सब मनुष्य अपने आप इन तत्त्वों की असलियत तक पहुंच नहीं सकते। अतः इनका पथ-प्रदर्शन करने वाले साधुओं

के प्रति भी आत्म-विश्वास होना जरूरी है। इसे संक्षेप में यों कह सकते हैं कि देव, गुरु और धर्म के प्रति सच्ची श्रद्धा करना जरूरी है और वही सम्यक्त्व है। देव पर हमें विश्वास इसलिए करना होगा कि वह हमारी आत्म-साधना के मार्ग-दर्शक हैं। वह सदा जीवित नहीं रहते अतः उनके अनुगामी एवं उनके तत्वों की व्याख्या करने वाले शुद्धाचारी साधुओं पर विश्वास करना होगा जो हमारे धर्मगुरु होते हैं। धर्म जो हमारी आत्म-मुक्ति का साधन है; उस पर विश्वास होना तो स्वाभाविक है। सम्यक्त्व सम्यग् ज्ञान एवं सम्यग् चारित्र की जड़ है, इसके विना न तो सम्यग् ज्ञान हो सकता है न सम्यग् चारित्र। या यों यह सकते हैं कि सम्यक्त्व आत्म-साधना की पहली मंजिल है। इसको तय किये विना दूसरी मंजिल ( जो चारित्र की है ) पर नहीं पहुंच सकते। इसका कारण यह है कि चारित्र का स्थान दूसरा है और सत्य-विश्वास का पहला। सत्य-विश्वास तो चारित्र के विना भी हो सकता है, परन्तु चारित्र उसके बिना नहीं हो सकता, अतएव यह सिद्धान्त उपयुक्त है कि धर्माचरण में कोई समर्थ हो सके या नहीं, तो भी कम से कम सत्य-विश्वासी तो बने। सत्य श्रद्धा होने से सदाचरणों में प्रवृत्त होना सुलभ हो जाता है।

केवलज्ञानवानर्हन् देवः

शासनके अधिष्ठाताको देव कहते हैं। हमारे देव अरिहन्त— तीर्थङ्कर है। हमें किसी व्यक्ति या नाम का पक्षपाती नहीं होना चाहिए। हम गुण के उपासक है। गुण की प्रतिष्ठा करना हमारा कर्त्तव्य है, इसीलिए हम उसी महापुरुष को देव मानते हैं, जो अरिहन्त है, जो राग-द्वेष रहित है और सत्य धर्म के प्रवर्त्तक हैं। देव

यथा—

"सर्वज्ञो वीतरागादिदोष, स्त्रैलोक्यपूजितः।
यथास्थितार्थवादी च, देवोर्हन् परमेश्वरः" ॥

जो सर्वज्ञ हैं, केवलज्ञानसे सब पदार्थोंको यथावत् जानते हैं, राग-द्वेष आदि दोषों का जिन्होंने क्षय कर डाला है, जो तीन लोक से पूजित हैं, जो यथास्थितिवादी हैं अर्थात् पदार्थों का जैसा स्वरूप है, वैसा ही उपदेश करते है, वह पुरुषोत्तम मनुष्य देव हैं, अर्हन्त हैं, परमेश्वर हैं।

"महाव्रतधरः साधुर्गुरुः"

गुरु

देव-कथित धर्म की अराधना करनेवाले तथा पांच महाव्रत पालने वाले निर्ग्रन्थ गुरु कहलाते हैं। यथा—

"महाव्रतधरा धीरा, भैक्षमात्रोपजीविनः।
सामायिकस्थाधर्मोपदेशका गुरवोमताः ॥

महाव्रत धरनेवाले, भिक्षासे जीवन निर्वाह करनेवाले—शांत, दांत, धर्मोपदेशक, निर्ग्रन्थ हमारे गुरु है। हमारे वर्तमान गुरु श्री तुलसी गणिराज हैं।

"आत्मशुद्धिसाधन धर्म."

धर्म

अरिहन्त-भाषित सत् प्रवृत्ति और असत् निवृत्तिरूप जो आत्मशुद्धि का साधन है, वही धर्म है।

अतिचार

इस प्रकारका सम्यक्त्व मैंने स्वीकार किया है। इस सम्यक्त्व के पांच अतिचार हैं। वह केवल श्रावकों के लिए जानने योग्य हैं, आचरण करने योग्य नहीं। ज्ञान और आचरण का यह कितना अन्तर है? अच्छी और बुरी सब वस्तुएं जानना ज्ञान का काम है। पर आचरण केवल हितकर वस्तुओं का ही होना

चाहिए। अतएव तत्त्वज्ञेय सब है और आदेय सिर्फ संवर, निर्जरा, मोक्ष ये तीन ही है। पांच अतिचार निम्न प्रकार हैं:—

(१) *शंका*—सर्वज्ञ कथित तत्त्व मे संदेह करना। यथा—आत्मा नहीं है, परलोक नहीं है इत्यादि। शंका का अर्थ यह नहीं जान लेना चाहिए कि वस्तुस्थिति को समझने के लिए तर्क-वितर्क या विचार-विनिमय करना ही शंका नाम का अतिचार है। मनुष्य जन्म-सिद्ध विद्वान् नहीं होता। जानकार होनेका साधन विद्याध्ययन है। ऊहापोह शिक्षा का मुख्य अङ्ग है। जिन वस्तुओं को हम यथावत् नहीं जानते उनके विषय मे शंका उठती है और उसका हम गुरु के समक्ष समाधान करते है। इससे सम्यक्त्व का कोई विरोध नहीं है। शंका से यहां हमारा तात्पर्य अविश्वास से है। गागर मे सागर नहीं समा सकता। अल्पज्ञ मनुष्य सब पदार्थों को प्रत्यक्ष नहीं जान सकता। उसे चाहिए कि वह अपनी शक्ति के अनुसार पदार्थों को जानने की चेष्टा करे। इसके उपरान्त भी यदि कोई तत्त्व समझ में नहीं आये तो उस पर विश्वास करे। एक सुई के अग्रभाग तुल्य कन्दमूल मे अनन्त जीव होते है। यह तर्क सिद्ध है, सब कुछ है। किन्तु यदि कोई प्रत्यक्ष से देखना चाहे तो यह प्रयास असफल होगा। उस दशा में उस मनुष्य को सर्वज्ञ के वचनों पर विश्वास रखना होगा। इस प्रक्रिया के विपरीत वह मनुष्य संदिग्ध रहे कि यह हो कैसे सकता है, यह हमारी समझ में नहीं आता अतः ऐसा नहीं होना चाहिए, इत्यादि विचार शंकातिचार के अन्तर्गत है। श्रीमद् भिक्षु स्वामी ने इसका बहुत सरल शब्दों में उपदेश दिया है कि किसी साधु या श्रावक के कोई गूढ़ तत्त्व समझ मे न आवे

तो वह उसकी गुरु के सामने चर्चा करे। ऐसा करने पर भी यदि वह अपनी बुद्धि में न समा सके तो उसे अपने को अल्प बुद्धि मान कर केवलीगम्य समझ ले, पर उस पर न तो हठ करे और न शंका करता रहे। वितण्डा के निवारण का यह सर्वोत्तम उपाय है।

(२) *कांक्षा*—जो धर्म वीतराग-कथित नहीं, पर सरल है, आनन्दपूर्वक भोगोपभोगों में रक्त रहने पर भी मुक्ति प्राप्त करा देने का दावा करता है, उसे स्वीकार करने की इच्छा करना कांक्षा नाम का दूसरा अतिचार है। भोग-विलास की ओर आत्मा की सहज ही गति रहती है और फिर धर्म के नाम से उपदेश मिल जाता है ; तब फिर क्यों कोई त्याग-तपस्या का कष्ट उठावे ? इस प्रकार के मोह प्रभोलनों में न फँसना और उनसे आकर्षित न होना ही सम्यक्त्व का आचार हैं।

(३) *विचिकित्सा*—त्याग, तपस्या आदि आचरणों के फल में सन्देह करना। मैं इतना धर्म करता हूं, इसका मुझे फल मिलेगा या नहीं इत्यादि ? ऐसी ऐसी शंकाओं से कई लोग धर्म भ्रष्ट हो जाते हैं। किन्तु उनको यह जानना चाहिए कि धर्म कभी निष्फल नहीं जाता, उसका फल अवश्य मिलता है। उससे हमारी आत्म-शुद्धि होगी और वही हमारे जीवन का सार है। उसकी आराधना हम धन-धान्य ऐश्वर्य आदि फल की प्राप्ति के लिए नहीं करते। हमारा लक्ष्य सिर्फ उसके सहारे मोक्ष प्राप्त करने का है। विचिकित्सा का दूसरा अर्थ घृणा है। साधु-सतियों के मैले कपड़े देखकर घृणा करना इत्यादि।

*पर पापंडिप्रशंसा एवं पर पापंडिसंस्तव*—ये क्रमशः चौथे

और पांचवें अतिचार है। इन दोनों का तात्पर्य यह है कि मिथ्य:त्वी की ऐसी प्रशंसा और उससे ऐसा परिचय नहीं करना चाहिए कि जिससे अपनी सम्यक्त्व में वाधा आ सके एवं मिथ्यात्व को प्रोत्साहन मिले। गुण की प्रशंसा और गुण का परिचय निषिद्ध नहीं हो सकता। यह निषेध मिथ्या आचार-विचार को प्रसारित करने का है। इससे हमें यह शिक्षा मिलती है कि हम किसी तरह भी मिथ्यात्वी के प्रभाव में आकर या उसे प्रसन्न करने के लिये उसके मिथ्या आचार विचार की प्रशंसा न कर। धार्मिक विचारों में हमारी सार्वभौम स्वतंत्रता का उपभोग करें। इन अतिचारों के सेवन से मुझे पाप लगा हो, वह सब मेरे लिये निष्फल हो।

## अणुव्रतानि

(महाव्रत की अपेक्षा छोटे व्रत)

### प्रथम अणुव्रत

मूल पाठ

पढमं अणुव्वयं-थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं तसजीवे बेइंदिय - तेइंदिय - चउरिंदिय-पंचिंदिये संकप्पओ हणण - हणावण - पच्चक्खाणं स-सरीर सविसेस-पीड़ाकारिणो-स-संबंधि-सविसेस-पीड़ाकारिणो वा वज्जिऊण जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि मणसा वयसा कायसा एअस्स थूलग - पाणाइवाय-वेरमणस्स समणोवासएणं पंच अइयारा पेयाला जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा—१ बंधे २ वहे ३ छविच्छेए ४ अइभारे ५ भत्तपाणविच्छेए जो मे देवसिओ अइआरो कओ तस्स मिच्छामिदुक्कडं ।

छाया

प्रथमं अणुव्रतं-स्थूलात् प्राणातिपाताद् विरमणं त्रसजीवानाम् द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियाणाम् संकल्प्य हनन-घातन प्रत्याख्यानम् स्व-शरीर-सविशेष-पीडाकारिण: स्व-संबन्धि-सविशेष-पीडाकारिण: वा वर्जयित्वा यावज्जीवं द्विविधं त्रिविधेन (स्थूलहिंसां) न करोमि न कारयामि मनसा वचसा कायेन एतस्य स्थूलकप्राणातिपात-विरमणस्य श्रमणोपासकेन पञ्च अतिचारा: प्रधाना: ज्ञातव्या: न समाचरितव्या: तद्यथा १ बन्ध: २ वध: ३ छविच्छेद: ४ अतिभार: ५ भक्तपान विच्छेद: यो मया दैवसिक अतिचार: कृत: तस्य मिथ्या मे दुष्कृतम् ।

शब्दार्थ

पढमं – प्रथम
अणुव्वयं—अणुव्रत
थूलाओ—स्थूल
पाणाइवायाओ—प्राणातिपात—जीव-हिंसा से
वेरमणं—विरत होना अलग होना
तसजीवं—त्रस जीव
बेइंदिय—द्वीन्द्रिय
तेइंदिय—त्रीन्द्रिय
चउरिंदिय—चतुरिन्द्रिय
पंचिंदिये—पञ्चेन्द्रिय को
संकप्पओ—संकल्प पूर्वक
हणणं—मारने का

हणावण—मरवाने का
पच्चक्खाणं—प्रत्याख्यान है
ससरीर—निज के शरीर का
सविसेस—विशेष
पीडाकारिणो वा—पीड़ा देने वाले का अथवा
वज्जिऊण—वर्ज कर
जावज्जीवाए—जीवनपर्यंत
दुविहं – दो करण
तिविहेणं—तीन योगसे (स्थूलहिंसा)
न करेमि—नहीं करूँ
न कारवेमि—नहीं कराऊँ

मणसा—मन से
वयसा—वचनसे
कायसा—शरीर से
एअस्स—इस
थूलग—स्थूल
पाणाइवाय—प्राणातिपात
वेरमणस्स—विरमणव्रत के
समणोवासएणं—श्रमणोपासक को
पंच—पाच
अइयारा—अतिचार
पीड़ा कारिणो—पीड़ा देनेवालेको।
स-संबंधि—अपने संबन्धी जनोको
सविसेस—विशेष।
पेयाला—प्रधान
जाणियव्वा—जानने योग्य है
न—नही है
समायरियव्वा—आचरण करने योग्य

तंजहा—वे इस प्रकार है
१ बंधे—बाधना
२ वहे—निर्दयता से मारना पीटना
३ छविच्छेए—गहरा घाव करना, शरीरके अवयवों का छेद करना
४ अइभारे—अतिभार लादना
भत्तपाणविच्छेए—खाने-पीने में रुकावट डालना
जो मे—जो मैंने
देवसियो—दिन सम्बन्धी
अइयारो—अतिचार
कओ—किया हो तो
तस्स—उसका
मिच्छामि—निष्फल हो
दुक्कडं—पाप

भावार्थ

प्रथम अणुव्रत स्थूल प्राणातिपातविरमण—हे गुरुदेव! मैं सर्वप्रथम पहले अणुव्रत में स्थूल जीव-हिंसासे निवृत्त होता हूं। मेरे निज के या मेरे सम्बन्धियों के अपराधियोंको छोड़कर शेष सब स्थूल द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों की संकल्प-पूर्वक (मारने की बुद्धि से) हिंसा करने का एवं करवाने का प्रत्या-

ख्यान करता हूं। मैं जीवन पर्यन्त इनकी हिंसा, मनसा-वाचा-कर्मणा न करूंगा और न कराऊंगा।

विवेचन

साधु और गृहस्थ का धर्म—मोक्ष साधना का पथ—पृथग् पृथग् नहीं है, एक ही है। अन्तर केवल इतना ही है कि मुनि का साधना-पथ पूर्ण है और गृहस्थ का अपूर्ण। साधु के पांच महाव्रत हैं—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह। इस दशा में गृहस्थ के पाच अणुव्रत हैं—महाव्रत की अपेक्षा छोटे व्रत—स्थूल अहिंसा, स्थूल सत्य, स्थूल अचौर्य, स्थूल ब्रह्मचर्य, स्थूल अपरिग्रह। शेप सात व्रत तो इनको ही पुष्ट करने वाले हैं। अणुव्रत

आत्मा अमर है। उसको मृत्यु नहीं होती। यह सर्व साधारण में प्रसिद्ध है। पर तत्त्वदृष्टि से यह चिन्तनीय है। चूंकि आत्मा एकान्त नित्य नहीं—परिणामी-नित्य है अर्थात् उत्पाद्-व्यय सहित नित्य है। केवल आत्मा ही क्या, विश्व के समस्त पदार्थों का यही स्वरूप है। कोई भी पदार्थ केवल नित्य या केवल अनित्य नहीं हो सकता। सभी पदार्थ अपने रूप का त्याग न करने के कारण नित्य है और नानाप्रकार की अवस्थाओं के प्राप्त होते रहने के कारण अनित्य है। या यों कहिये द्रव्यरूप मे सब पदार्थ नित्य हैं और पर्याय रूप में अनित्य है। नित्य का फलितार्थ है—अपने रूप को न त्यागना। अनित्य का फलितार्थ है—क्रमशः एक-एक अवस्था को छोड़ते रहना और दूसरी-दूसरी अवस्था को पाते रहना। आत्मा अपने स्वरूप को नहीं त्यागती, अतः नित्य है—अमर है और एक शरीर को छोड़ती है, दूसरे को पाती है, इत्यादि अवस्थाओं से अनित्य है—उसकी मृत्यु होती प्राणातिपात

है। आत्मा की प्राण-शक्तियों का शरीर के साथ सम्बन्ध होता है, उसका नाम जन्म है और उनका शरीर से वियोग होने का नाम मृत्यु है। जन्म और मृत्यु ये दोनों आत्मा की अवस्था हैं। मृत्यु से आत्मा का अत्यन्त नाश नहीं होता। केवल उसकी अवस्था का परिवर्तन होता है। यथा—

'जीव जीवे अनादिकाल रो, मरे तिणरी हो पर्याय पलटी जाण'*

इसलिए शरीर के वियोग होने से आत्मा की मृत्यु कहने में हमें कोई भी संकोच नहीं होना चाहिए। प्राण शक्तियां दश हैं—

पांच इन्द्रिय प्राण,
६ मनोबल,
७ वचनबल,
८ कायबल,
९ श्वासोच्छ्वास प्राण,
१० आयुष्य प्राण।

राग-द्वेष प्रमादात्मक प्रवृत्ति से इनका शरीर से अतिपात—वियोग करने का नाम प्राणातिपात-हिंसा है। अथवा आत्मा की जितनी असत्-प्रवृत्ति है, वह सब हिंसा है। अतएव हिंसा वस्तुतः अपनी असत् प्रवृत्ति पर ही निर्भर है।

हिंसा के प्रकार

प्राण शक्तियों का शरीर से सर्वथा वियोग करना सर्व हिंसा है और उन्हें कष्ट देना देश हिंसा है—आंशिक हिंसा है। सूक्ष्म जीव—एकेन्द्रिय की हिंसा करना सूक्ष्म हिंसा है। स्थूल जीव—द्वीन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय तक की हिंसा करना स्थूलहिंसा है। खाने-पीने में, भोजन पकाने में, व्यापार करने में, खेती करने में,

* श्री भिक्षुस्वामी

मकान बनाने आदि-आदि कार्यों में होने वाली हिंसा आरम्भजा हिंसा है। बिना प्रयोजन संकल्पपूर्वक हिंसा करना संकल्पजा हिंसा है। अपराध करने वाले को मारना अपराधी हिंसा है। बिना अपराध किये मार डालनो निरपराध हिंसा है। अपराध की आशंका से मार डालना सापेक्ष हिंसा है। अपराध की आशंका के बिना ही मार डालना निरपेक्ष हिंसा है।

अहिंसा

अहिंसा हिंसा का विरोधी शब्द है। इसका शाब्दिक अर्थ यही है कि हिंसा नहीं करना। परन्तु परिभाषा में केवल निषेध का ही अर्थ ग्रहण नहीं करना चाहिए। परिभाषा के रूप में अहिंसा का अर्थ क्रियात्मक है।

'सर्वथा सर्वजीवेष्वजिघांसुवृत्तिरहिंसा'

अहिंसा में दया के सारे भाव भरे है। प्राणीमात्र को मैत्री का अमोघ दान देना अहिंसा है और वही महान् दया है। दया विधानात्मक शब्द है। इसका शब्दानुसारी अर्थ है—जीवों की रक्षा करना। नहीं मारने से जीवों की रक्षा सहज ही हो जाती है। इसी आशय से श्री भिक्षु स्वामी ने फरमाया है।

नही मारे हो, ते दया गुणखान'।

अहिंसाही शुद्ध दया है। अहिंसा ही अभयदान है।

समता

अहिंसा का लक्षण समता है। असमता से अहिंसा का विरोध है। अहिंसा में मनुष्य की रक्षा और अन्य प्राणियों की उपेक्षा करने का उपदेश आदेय नहीं हो सकता। मनुष्य हमारे जैसा है, मनुष्य अधिक बुद्धिमान है, अन्य दार्शनिकों के शब्दों में "ईश्वर ने मनुष्य को बुद्धि दी है, जो मनुष्येतर प्राणियों को नहीं दी," इत्यादि विचारों से मनुष्य से भिन्न वराक जीवों का

निर्घृण—नाश करना अहिंसा पथ से च्युत होना है। हिंसा हिंसा ही रहेगी, चाहे एकेन्द्रिय भी क्यों न हो ? हिंसा क्षम्य नहीं हो सकती। कार्यवश की जाने वाली हिंसा हिंसा ही है। हिंसा की जितनी विरति होती है, वह अहिंसा है। यह नहीं माना जा सकता कि गृहवास में रहता हुआ मनुष्य पूर्ण अहिंसक हो सकता है। गृहवास का जीवन हिंसामय है। उसमें तो जितनी विरति की जावे, वह अहिंसा है।

श्रावक अहिंसा

मुनि की अहिंसा पूर्ण है। इस दशा में श्रावक की अहिंसा अपूर्ण है। मुनि की तरह श्रावक सब प्रकार की हिंसा से मुक्त नहीं रह सकता। मुनि की अपेक्षा श्रावक की अहिंसा का परिमाण बहुत कम है। उदाहरण के रूप मे मुनि की अहिंसा बीस विस्वा* है तो श्रावक की अहिंसा सवा विस्वा है। इसका कारण यह है कि श्रावक त्रस जीव की हिंसा को छोड़ सकता है, बादर-स्थावर† जीवों की हिंसा को नहीं। इससे उसकी अहिंसा का परिमाण आधा रह जाता है। दश विस्वा रह जाता है। इसमे भी श्रावक त्रस जीवों की संकल्पपूर्वक हिंसा का त्याग करता है—आरम्भजा हिंसा का नहीं। अतः इसका परिमाण उससे भी आधा अर्थात् पाच विस्वा रह जाता है।

इरादापूर्वक हिंसा भी उन्हीं त्रस जीवों की त्यागी जाती है, जो निरपराधी है। सापराधी त्रस जीवों की हिंसा से श्रावक मुक्त नहीं हो सकता। इससे वह अहिंसा अढाई विस्वा रह

* पूर्ण अहिंसा के बीस अश है; उनमे से श्रावक की अहिंसा का सवा अश है।

† पृथ्वी, पानी, अग्नि, हवा, वनस्पति।

जाती है। निरपराध त्रस जीवों की भी निरपेक्ष हिंसा को श्रावक त्यागता है। सापेक्ष हिंसा तो उससे हो जाती है। इस प्रकार श्रावक की अहिंसा का परिमाण सवा विस्वा रह जाता है। एक प्राचीन गाथा में इसे संक्षेप में कहा है:—

'जीवा सुहुमाथूला, सकप्पा, आरम्भा भवे दुविहा
सावराह निरवराहा, सविक्खा चेव निरविक्खा।'

अर्थ—१—सूक्ष्म जीव हिंसा, २ स्थूल जीव हिंसा, ३—संकल्प हिंसा, ४—आरम्भ हिंसा, ५—सापराध हिंसा, ६—निरपराध हिंसा, ७—सापेक्ष हिंसा, ८—निरपेक्ष हिंसा, हिंसा के ये आठ प्रकार है। श्रावक इनमे से चार प्रकार की (१, ३, ५, ७,) हिंसा का त्याग करता है। अतः श्रावक की अहिंसा अपूर्ण है।

स्थावर जीव दो प्रकार के होते है। (१) सूक्ष्म स्थावर और (२) बादर स्थावर। सूक्ष्म स्थावर इतने सूक्ष्म होते है कि वे किसी के योग से नहीं मरते हैं। अतएव उनकी हिंसा का त्याग श्रावक को अवश्य कर देना चाहिए। बादर स्थावर की हिंसा का पहले अणुव्रत में निर्देश नहीं किया है। चूकि श्रावक बादर स्थावर जीवों की सार्थ ( अर्थ सहित ) हिंसा का त्याग कर नहीं सकता। गृहवास में इस प्रकार की सूक्ष्म हिंसा का प्रतिषेध अशक्य है। शरीर, कुटुम्ब आदि के निर्वाहार्थ श्रावक को यह करनी पड़ती है। तथापि इनकी निरर्थक हिंसा का त्याग तो श्रावक को अवश्य ही करना चाहिए।

स्थावर अहिंसा

'निरर्थिका न कुर्वीत, जीवेषु स्थावरेष्वपि
हिंसामहिंसाधर्मज्ञ. कांक्षन्मोक्षमुपासक.'

अर्थात् मोक्षाभिलाषी अहिंसा मर्मज्ञ श्रावक को स्थावर जीवों की भी निरर्थक हिंसा नहीं करनी चाहिए। अहिंसा धर्म सावधानी में है, विभ्रान्ति में नहीं।

अहिंसा का प्राधान्य

बारह व्रतों में अहिंसा व्रत सबसे प्रधान है। अतएव सर्व प्रथम इसका उपदेश प्राप्त है। अहिंसा से सब व्रतों का समन्वय है। शेष सब व्रत इसकी शृङ्खला से बद्ध है। इसकी मर्यादा सर्वत्र अनुल्लंघनीय है। यह सब में व्याप्त है।

पूर्ववर्ती आचार्यों ने यहाँ तक लिखा है कि तीर्थंकरों ने केवल अहिंसा का ही उपदेश दिया है "अवसेसा तस्स रक्खठा'। शेष व्रत तो उसकी रक्षा के हेतु ही बतलाये हैं। अहिंसाव्रत एक राजा है तो शेष सब उसके सैनिक हैं। अहिंसा व्रत एक धान भरा खेत है तो बाकी के सब बाड़ हैं। इसके बारे में जितना कहा जा सके उतना ही उचित है। जैन धर्म की मूल भीत्ति, जीवन-प्राण जो कुछ है, वह सब अहिंसा ही है।

।नंमान नमस्या

अहिंसा का प्रयोग एक बड़ी विकट समस्या है। गृहस्थ को अहिंसा का उपयोग किस जगह और किस दशा में करना चाहिए इसके बारे में अनेक मत हैं। कई कहते हैं कि हमें सब जगह अहिंसा का प्रयोग करना चाहिए। बिना इसके हम किसी भी क्षेत्रमें आगे नहीं बढ़ सकते। हमारे जीवन में जो कुछ सार वस्तु है वह अहिंसा ही है। अहिंसा का आदर हमारा आदर है और उसकी उपेक्षा हमारी उपेक्षा। दूसरे इसके प्रतिकूल सिंह-गर्जना करते हैं कि *अहिंसा और अहिंसा के उपदेशकों ने

* यह टीका विदेशी शासन काल में की गई थी इसीलिए लेखक ने भारत की परतन्त्रता का उल्लेख किया है।

हमारा सर्वस्व छीन लिया। हमारे स्वत्व का नाश कर डाला। अहिंसा अहिंसा की रट में हम दास बन गये। देश को गुलाम बना दिया। हम आज परतन्त्र है, मुहताज हैं, विवशता की बेड़ियों से जकड़े हुए है। आज दुनिया मे हमारा कोई सन्मान नहीं, कोई स्थान नहीं, हमारी कोई आवाज नहीं, हम नगण्य है। आज हम कुछ नहीं कर सकते। गुलामों का क्या धर्म? दासत्व से मुक्ति पाये बिना क्या अहिंसा? इस दशा मे हम अहिंसा को बर्दाश्त नहीं कर सकते। अहिंसा का स्वागत उसी दिन करेंगे जिस दिन हम हमारे पैरों पर खड़े हो जायंगे, अन्यथा नहीं। इस प्रकार के विषम, विषमतम विचारों का जैन दर्शन अनेकान्त दृष्टि से किस प्रकार समन्वय करता है, वह भी हमारे मनन करने का विषय है। हमें सब का सार लेना है और असार को त्यागना है। इस पद्धति से ही हम सत्य को देख सकेंगे। जैन दर्शन के अनुसार गृहस्थ के विचारों का केन्द्र मुनि की तरह केवल धार्मिक क्षेत्र ही नहीं है। राजनैतिक एवं सामाजिक क्षेत्रों में भी उसकी गति अबाध होती है। उनकी मर्यादा का उचित ध्यान रखे बिना उसके गृहस्थसम्बन्धी औचित्य का निर्वाह नहीं हो सकता। अतः गृहस्थ के कार्यक्षेत्र हिंसात्मक और अहिंसात्मक दोनों ही हैं। वर्तमानके राजनैतिक वातावरण में अहिंसा को पल्लवित करने की चेष्टा की जा रही है। यह कोई नई बात नहीं। इसमें कोई आश्चर्य नहीं। अहिंसा का प्रयोग प्रत्येक क्षेत्र मे किया जा सकता है। उसका क्षेत्र कोई पृथक् निर्वाचित नहीं है। वह सर्वथा स्वतंत्र है। सत्प्रवृत्ति और निवृत्ति मे उसका एकाधिकार—आधिपत्य है। जीवन की अनिवार्य आवश्यक-

ताओं में भी अहिंसा प्रयोज्य है। खाने पीने में भी अहिंसा का ख्याल रखना लाभप्रद है। पर हिंसा और अहिंसा का विवेक यथावत् होना चाहिये ; अन्यथा दोनों का सम्मिश्रण लाभ के बदले हानिकारक हो जाता है। भगवान् महावीर का उपासक तत्कालीन राजा चेटक विशाला के राज्य का सूत्रधार और गण-तन्त्र का प्रमुख था। भगवान् की अमोघ वाणी से उसने अहिंसा का अमूल्य पाठ सीखा था। निरपराधी जीवों के प्रति उसकी भावना में दया का प्रवाह था। यह तो श्रावकत्व का सूचक है ही, किन्तु सापराध प्राणी भी उसके सफल बाण से एक दिन में एक से अधिक मृत्यु का आलिङ्गन नहीं कर पाते थे। इतना मनोबल सर्व साधारण में हो सकता है, यह संभव नहीं। व्रत विधान सर्व साधारण को अहिंसा की ओर प्रेरित करने के लिये है। अतः इसका विधान सार्वजनिकता के दृष्टिकोण से सर्वथा समुचित है। इसमें अहिंसा का परिमाण यह बताया गया है कि श्रावक निरपराध त्रस प्राणी (न केवल मनुष्य) को मारने की बुद्धि से नहीं मारता। यह अहिंसा का मध्यम मार्ग है। गृहस्थ के लिये उपयोगी है। इसमें न तो गृहस्थ के औचित्य संरक्षण में भी बाधा आती है और न व्यर्थ हिंसा करने की राक्षसी वृत्ति भी प्रोत्साहित होने पाती है। यदि हिंसा का बिलकुल त्याग न करे तो मनुष्य राक्षस बन जाता है और वह हिंसा को सर्वथा त्याग दे तो गृहस्थपन नहीं चल सकता। इस परिस्थिति में यह मध्यम मार्ग श्रावक के लिए अधिक श्रेयस्कर है। इसका अर्थ यह नहीं कि गृहस्थ इस हद के उपरान्त हिंसा का त्याग कर ही नहीं सकता। यदि किसी गृहस्थ में अधिक साहस हो, अधिक मनोबल हो तो

वह सापराध और निरपराध दोनों की हिंसा का त्याग कर सकता है। पर सर्व साधारण मे कहाँ इतना मनोबल, कहाँ इतना धैर्य और कहाँ इतना साहस कि वह अपराधी को भी क्षमा कर सके? हिंसक बल के सामने अपने भौतिक अधिकारों की रक्षा कर सके? नीतिभ्रष्ट लोगों से अपने स्वत्व को बचा सके? अहिंसा का प्रयोग प्रधानतः आत्मा को शुद्धि के लिए है। राज्य आदि कार्यों मे हिंसा से जितना बचाव हो सके, उतना बचाव करे, यह राजनीति मे अहिंसा का प्रयोग है। किन्तु जो बल आदि का व्यवहार होता है, वह हिंसा ही है। अहिंसा आत्म-साधना मे है, भौतिक सुख साधना मे नहीं। दूसरी विचारधारा के अनुसार अहिंसा से देश का पतन हुआ, यह सत्य से अछूता है। देश की अवनति पारस्परिक ईर्ष्या, द्वेष, कलह आदि से हुई है न कि अहिंसा से। अहिंसा एक मात्र उत्थान का साधन है, पतन का नहीं। अहिंसा मनोबल है। इससे कायरता का नाश होता है। यह वीरत्व का द्वार है। अनजान आदमी ही यह कह सकता है कि अहिंसा ने हमें कायर बना दिया। जानकार यह कभी नहीं मान सकता। अहिंसा और बुजदिली का सम्बन्ध ही क्या? अहिंसक सब को अभय दान देता है, उससे किसी को भय नही होता है, जहां भय नहीं, वहां कायरता कैसे? कायरता भयजन्य है। अभय और आतंक का जन्मजात विरोध है। जो केवल तलवार के बलपर ही रहता है वह तलवार से ही परास्त होता है। उसका बल दूसरों के लिए आतंक है और दूसरों का उसके लिए। अणुबम इस प्रतिस्पर्धा का ही फल है। यही तो विश्व अशांति का चक्र है। अहिंसा का मार्ग प्रशस्त है, इसमें प्रतिस्पर्धा और द्वेष को स्थान नहीं। अहिंसा

ही एकमात्र ऐसा सत्य तत्त्व है जो समूचे विश्व के प्राणियों को मैत्री की एक शृंखला में पिरो सकता है। आर्य मनुष्य भी म्लेच्छों की तरह यदि हिंसा को अपनी दृष्टि का वेध बना लेंगे तो फिर आर्य और म्लेच्छों की भेद-रेखा ही क्या होगी? आर्यत्व और म्लेच्छत्व का विभाजक मुख्यरूपेण आचरण ही होता है। म्लेच्छ की भावनाएं हिंसा प्रधान होती है और आर्य की भावनाएं अहिंसा प्रधान। म्लेच्छ हिंसा करने को उत्सुक रहता है। आर्य को कार्यवश हिंसा करनी पड़े तो भी वह उसे हिंसा ही समझता है, वह हिंसा के लिए अपने को विवश मानता है। जैसे ऐतिहासिक युग में बहुत से आर्य श्रावक-राजा अहिंसा-रत थे। उनके पास सैन्य बल था, हिंसा के सब साधन थे, सब कुछ था, पर वे उसे राज्य मर्यादा के औचित्य का संरक्षण मानते थे। जनपद की रक्षा के लिए उसका प्रयोग भी करते थे। बाहरी आक्रमणों को रोकते भी थे। पर उस सामर्थ्य से किसी दूसरे को व्यर्थ संतप्त करना उनका काम न था। यदि आज के मनुष्य भी अहिंसा की अवहेलना कर हिंसा को प्रधानता देंगे तो अपने आप को म्लेच्छ होने से कैसे रोक सकेंगे? गृहस्थावास में हिंसा की अनिवार्यता को जानते हुए भी जो मनुष्य अहिंसा की उपादेयता को मान्य समझेंगे, वे ही अपने आर्यत्व की रक्षा करने में समर्थ हो सकेंगे। इससे कोई यह भी न समझ ले कि अहिंसा सर्वत्र उपादेय या प्रयोज्य नहीं है। अहिंसा का स्वरूप सब जगह समान है, पर वह पूर्णरूप से तभी सफल हो सकता है जब कि अहिंसा का प्रभाव सारे विश्व में फैल चुका हो। हिंसक शक्तियों के सामने अहिंसा आत्म-स्वत्व बचा सकती है, भौतिक स्वत्व को

नहीं। भौतिक स्वत्व की रक्षा मे तुले हुए गृहस्थ सर्वत्र अहिंसा का प्रयोग नहीं कर सकते। यदि सब जगह उन्हें अहिंसा का पालन करना है तो भौतिक अधिकारों को उन्हें तिलाञ्जलि देनी होगी, इससे विपरीत कार्य में अहिंसा को। भौतिक रक्षण और अहिंसा इन दोनों का संतुलन नहीं हो सकता।

इस व्रत के पांच अतिचार है, श्रावकों को यह वर्जने चाहिये। अतिचार

१ *बन्ध*—क्रोधादिवश मनुष्य या तिर्यञ्चको गाढ़े बन्धन से नहीं बांधना चाहिये।

२ *वध*—क्रोधादिवश मनुष्य या तिर्यञ्च के लाठी आदिसे गहरे घाव नहीं करने चाहिये, कोड़े आदि से मारना पीटना नहीं चाहिये।

३ *छविच्छेद*—क्रोधादिवश मनुष्य या तिर्यञ्च के शरीर के अवयवों का छेदन नहीं करना चाहिये। बन्ध, वध और छवि-च्छेद, इन तीनों के दो दो भेद होते है, सापेक्ष और निरपेक्ष। जैसे गाय भैंस, आदि को उनकी रक्षा के निमित्त बांधना सापेक्ष बन्ध है और क्रोधादिवश गाढ़ बन्धनसे बांध देना निरपेक्ष बन्ध है। आवश्यकता होने पर मर्म स्थान पर चोट न लगाते हुए, उनके हित की रक्षा करते हुए मारना सापेक्ष वध है और क्रोधा-दिवस मारना निरपेक्ष वध है। प्रयोजन से रोग-चिकित्सा के निमित्त अंगोपाङ्ग काटना सापेक्ष छविच्छेद है। क्रोधादिवश अवयवच्छेद करना निरपेक्ष छविच्छेद है। श्रावक के निरपेक्ष बन्ध, वध और छविच्छेद अतिचार हैं, सापेक्ष नहीं।

४ *अतिभार*—क्रोधवश, लोभवश, ऊंट, घोड़ा आदि भार

ढोने वाले पशुओं पर उनकी शक्तिसे अधिक (प्रमाणातिरेक) भार नहीं लादना चाहिये।

५ *भक्तपानविच्छेद*—क्रोधवश या लोभवश अपने आश्रित प्राणियों के खाने-पीने में रुकावट नहीं डालना चाहिये। नियत समय पर वेतन नहीं देना, बिना कारण किसी जीवका नाश करना, नियत समय पर छुट्टी नहीं देना, हल, गाड़ी वगैरहसे बैलों को नियत समय पर नहीं छोड़ना आदि इस अतिचार के अन्तर्गत हैं। रोग निवृत्ति निमित्त आदि प्रयोजन से आहार पानी नहीं देना श्रावक के अतिचार नहीं है।

आलोचना—इनसे कोई पाप लगे हों तो वह मेरे लिये निष्फल हों।

व्रत मर्यादा भङ्ग

व्रत की मर्यादा भंग करने के चार प्रकार हैं। अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार। यह चारों ही त्याज्य हैं। त्यागे हुए कार्य को करने का विचार करना अतिक्रम है उस कार्य की पूर्ति के लिये साधन एकत्रित करना व्यतिक्रम है। व्रत भङ्ग की तैयारी कर रखी है, परन्तु जब तक व्रत भङ्ग नहीं किये, तब तक अतिचार है अथवा व्रत की अपेक्षा रखते हुए कुछ अंश में व्रत का भङ्ग करना अतिचार है। व्रत की अपेक्षा न रखते हुए संकल्प पूर्वक व्रत भङ्ग करना अनाचार है।

अतिचार क्यों ?

इस व्रत में श्रावक निपराध त्रस जीव को मारने की चेष्टा से मारने का त्याग करता है, इस दशा में बन्ध आदि अतिचार क्यों ?* इसका समाधान निम्न प्रकार है। यह सत्य है कि

* न मारयामीति कृतव्रतस्य, विनैव मृत्यु कइहातिचारः।
निगद्यतेय कुपितो वधादीन्, करोत्य स्यान्नियमानपेक्ष. ॥१॥

पहले व्रत मे श्रावक के सर्व हिंसा (प्राणविच्छेद) का त्याग होता है, वंध आदि का नही। तथापि वन्ध, वध आदि सव हिंसा के उपाय है, अतः परमार्थ रूप से इनको भी त्यागरूप ही समझना चाहिये। इसके साथ २ यह भी ध्यान मे रखना चाहिये कि यदि संकल्पपूर्वक, व्रतों की अपेक्षा किये विना अतिचारों का सेवन किया जाय तो वह अनाचार सेवन ही है, व्रतभङ्ग का कारण ही है।

अतिचार से व्रत का सर्वदा भङ्ग नहीं होता, देश भङ्ग (आंशिक भंग) होता है। व्रत का पालन दो तरह से होता है— अन्तर्वृत्ति से और वहिर्वृत्ति से। व्रती गृहस्थ मारनेकी बुद्धि विना क्रोध मे तत्पर होकर प्राणीके प्राणो की परवाह न करता हुआ वन्धन आदि मे वर्तता है, उससे प्राणी की मृत्यु न हो तो भी वह व्रत की अपेक्षा रखे विना निर्दय भावना से वर्तता है, अतः अन्तर्वृत्ति से उसके व्रत का भङ्ग होता है। और उस प्राणी की मृत्यु नहीं होती है, अतः वहिर्वृत्ति से व्रत का पालन होता है। देश भङ्ग

अतिचार संख्या में पांच है। यह गणना मुख्य रूप से है। इयत्ता का निर्धारण लक्षण बताने के लिए होता है। इसके अनुसार अन्य भी स्वयं जान लेने चाहिये। जिन २ कार्यों से प्राणातिपात विरमण व्रत के भङ्ग होने की सम्भावना हो, वह सब इस व्रत के अतिचार हैं। अतिचार का स्वरूप शेष सभी व्रतों में इसी के अनुसार जान लेना चाहिये। अतिचार संख्या

धर्म से समाज का क्या सम्बन्ध है ? इस पर विचार करने के परिशिष्ट

मृत्योरभावन्नियमोस्ति तस्य, कोपाद् दयाहीनतयातु भग्न।
देशस्य भङ्गादनुपालनाच्च, पूज्यो अतीचारमुदाहरन्ति ॥२॥

लिए व्रतों का स्वरूप दिखलाना आवश्यक प्रतीत होता हैं। इसमें यह दिखलाने का प्रयत्न किया जायगा कि व्रत परम्परा के आधार पर आध्यात्मिक जीवन से मनुष्य अपने सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन को भी कितना उन्नत बना सक्ता है। पहला अणुव्रत हमें अहिंसा का उपदेश करता है। अहिंसा की भीत्ति पर खड़े रह कर हम विश्व को मित्र बना सकते हैं। सबके प्रति हम विश्वास के पात्र बन सकते है, और हम सबका विश्वास प्राप्त कर सकते है।

"आत्मनः प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत्"* के सिद्धान्त को हम नहीं भूले।

"सव्वेजीवापियाउया, सुहाउया, सुहसाया दुहपडिकूला।†
सव्वेजीवा वि इच्छन्ति, जीवउं न मरीज्जिउ"॥

इस प्रकार के विचारों की सरिता का प्रवाह हमारे हृदय को सींचता रहे तो हम निःसन्देह एक आदर्श जीवन बिता सकते है। यह सही बात है कि धर्म का लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति है। धर्म का मुख्य फल वही है पर आनुषंगिक फल के रूप में समाज और देश का सुधार सहज ही हो जाता है। यह विषय बहुत लम्बा है और इस पर बहुत कुछ लिखा जा सकता हैं। किन्तु इस समय सिर्फ प्रतिक्रमण सम्बन्धी मुख्य-मुख्य विषयों पर प्रकाश

---

*--जो काम आत्मा के लिए प्रतिकूल है वे दूसरो के लिए भी न करें।

†—सब जीवो को जीवन प्रिय है, सब सुख के इच्छुक है, दु.ख के प्रतिकूल है। सब जीव जीना चाहते है, मरना नही। अतः घोर प्राणि वध को वर्जना चाहिए।

डालना है। इसलिए यहां केवल संक्षिप्त उदाहरण के रूप में ही कई बातों को सामने रखना चाहूंगा। उसके अनुसार विज्ञ-पाठक स्वयं उसके महत्व को हृदयंगम कर लेंगे। अहिंसाव्रत निरपराध त्रस जीवों को न मारने का आदेश देता है। मारना, पीटना, अंगोंपाङ्गों को छेद देना आदि आदि पाशविक कार्यों से बचना सिखलाता है। मूक प्राणियों के प्रति निर्दयता से किये जाने वाले, अधिक भार ढोना, न चलने पर उन्हें बुरी तरह ताड़ना आदि-आदि अत्याचारों का निषेध करता है, जिसके लिए सरकार को कानून बनाना पड़ा है। लोभ के वश मुनीम गुमाश्तों से काम कराते ही रहना, चाहे उनका खाने पीने का समय कब ही क्यों न बीत चुका हो, ऐसे आचरणों का प्रतिबन्ध करता है। जबकि सरकार ने अब कहीं कहीं ( भारत में ) कानून बना कर इसे रोका है। इस व्रत का काम हृदय की क्रूरता का नाश करना है, जो कि सब अवगुणों का कारण है।

## दूसरा अणुव्रत

सत्य

### मूल पाठ

बीयं अणुव्वयं थूलाओ मुसावायाओ वेरमणं सेय मुसावाए पंचविहे पन्नत्ते तंजहा—१ कन्नालीए २ गवालीए ३ भोमालीए ४ नासावहारे ५ कूड़सक्खिज्जे इच्चेवमाइस्स थूलमुसावायस्स पच्चक्खाणं जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि मणसा वयसा कायसा एअस्स बीयस्स थूलग-मुसावाय-वेरमणस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा—१ सहसा भक्खाणे २ रहस्स भक्खाणे ३ सदारमंतभेए ४ मोसोवएसे ५ कूडलेह करणे जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

छाया

द्वितीयं अणुव्रतं स्थूलाद् मृषावादाद् विरमणं स च मृषावादः पञ्चविधः प्रज्ञप्तः तद्यथा १ कन्यालीकम् २ गवालीकम् ३ भूम्यलीकम् ४ न्यासोपहारः ५ कूटसाक्ष्यम् इत्येवमादेः स्थूलमृषावादस्य प्रत्याख्यानं यावज्जीवं द्विविधं त्रिविधेन न करोमि न कारयामि मनसा वचसा कायेन एतस्य द्वितीयस्य स्थूलमृषावाद विरमणस्य श्रमणोपासकेन पञ्च अतिचाराः ज्ञातव्याः न समाचरितव्याः तद्यथा १ सहसाऽभ्याख्यानं २ रहस्याऽभ्याख्यानं ३ स्वदारमन्त्र भेदः ४ मृषोपदेशः ५ कूटलेखकरणं यो मया दैवसिकः अतिचारः कृतः तस्य मिथ्या मे दुष्कृतम् ।

शब्दार्थ

बीयं—दूसरा
अणुव्वयं—अणुव्रत
थूलाओ—स्थूल
मुसावायाओ—मृषावाद से
वेरमणं—विरमण करना ।
सेय—वह
मुसावाए—मृषावाद
पंचविहे—पाच प्रकार का
पन्नत्ते—कहा है ।
तंजहा—वह इस प्रकार है ।
कन्नालीए—कन्यालीक ( कन्या सम्बन्धी झूठ )
गवालीए—गवालीक ( गाय सम्बन्धी झूठ )
भोमालीए—भूम्यलीक ( भूमि सम्बन्धी झूठ )
नासावहारे—न्यासापहार (धरोहर सम्बन्धी झूठ)
कूडसक्खिज्जे—झूठ साक्षी (झूठी गवाह)
इच्चेवमाइस्स—इत्यादिक
थूलमुसावायस्स—स्थूल मृषावादका
पच्चक्खाणं—प्रत्याख्यान

जावज्जीवाए—जीवन पर्यन्त
दुविहं—दो करण
तिविहेणं—तीन योग से
न करेमि—न करूँ (न बोलूं)
नकारवेमि—न कराऊँ (न बोलाऊँ)
मणसा—मन से
वयसा—वचन से
कायसा—काया से
एअस्स—इस
बीयस्स—द्वितीय
थूलग—स्थूल
मुसावाय—मृषावाद
वेरमणस्स—विरमणव्रत के
समणोवासएणं—श्रमणोपासक के लिए
पंच—पाच
अइयारा—अतिचार
जाणियव्वा—ज्ञातव्य हैं।
न—नही है।

समायरियव्वा—आदरणीय
तंजहा—वे इस प्रकार है।
सहसा भक्खाणे—यकायक बिना सोचे-विचारे किसी पर कलक लगाना
रहस्य भक्खाणे—रहस्य की बाते करते देखकर कलक लगाना
सदारमंतभेए—स्त्री के मर्म को प्रकट करना
मोसोवएसे—मिथ्या उपदेश देना
कूडलेहकरणे—झूठे लेख लिखना
जो मे—जो मैंने
देवसिओ—दिन सम्बन्धी
अइयारो—अतिचार
कओ—किया हो तो
तस्स—उसका
मिच्छामि—निष्फल
दुक्कडं—पाप

भावार्थ

हे गुरुदेव ! मैं दूसरे अणुव्रत में स्थूल मृषावाद से निवृत्त होता हूं। मैं जीवन पर्यन्त कन्यालीक प्रमुख पांच प्रकार का झूठ बोलने का दो करण तीन योग से प्रत्याख्यान करता हूं। मैं

आज से इस प्रकार का असत्य वचन मनसा, वाचा, कर्मणा न बोलूंगा और न बोलाऊंगा।

विवेचन

"असद्भावोद्भावनमनृतम्"

बिना किसी अपेक्षा के असद् भाव (जो जिस प्रकार नहीं हैं) को सद्भाव के रूप में दिखाने का नाम असत्य है। असत्य का सम्बन्ध मन, वचन और शरीर इन तीनों से है। मन और शरीर की अपेक्षा वाणी में भावों को प्रगट करने की क्षमता अधिक है। अतः असत्य का नाम मुख्यरूप से मृषावाद (असत्य-बोलना) रखा गया है। एक असत्य भाव का मन से चिन्तन करना मानस असत्य है, वाणी से कहना वाचिक असत्य है; शरीर की चेष्टाओं से व्यक्त करना शारीरिक असत्य है। मृषावाद

असत्य सभी त्याज्य हैं, चाहे वह छोटा हो, चाहे बड़ा। असत्य को कोई भी उपादेय नहीं बतला सकता। यह मुनि का आचरण है। श्रावक का एक सिद्धान्त है। श्रावक के सिद्धान्त और आचरण का संतुलन नहीं हो सकता। सम्यक् श्रद्धा और सम्यक् आचरण एक नहीं दो है। श्रावक सम्यक् ज्ञान से पदार्थों को यथावत् जानता है और सम्यक् श्रद्धा से उन पर विश्वास करता है। पर उनका आचरण अपनी शक्ति के अनुसार ही कर सकता है; उसके उपरान्त नहीं। इसीलिए श्रावक स्थूल असत्य वचन का त्याग करता है। स्थूल मृषावाद विरति

स्थूल मृषावाद के प्रधानतया पांच प्रकार बतलाए हैं। जैसे— कन्यालीक, गवालीक, भूम्यलीक, न्यासापहार, और कूटसाक्षी। पाच प्रकार

ये सब लाक्षणिक हैं। इनके सदृश स्थूल असत्य वचन इन्हीं के अन्तर्गत हो जाते हैं।

१ *कन्यालीक*—कन्या के सम्बन्ध में झूठ बोलना। जैसे काणी, खोड़ी, अपंग-अपाहिज, कन्या को रूपवती एवं गुणवती कहना। इसी प्रकार सर्वाङ्ग सुन्दर कुलीन कन्या को कुरूपा एवं निराश्रित कहना। इसी प्रकार वर के सम्बन्ध में भी विपर्यास सहित वाणी बोलना। इसमें नौकर-नौकरानी, मुनीम-गुमाश्ता आदि सब मनुष्य सम्बन्धी स्थूल झूठ का समावेश हो जाता है।

२ *गवालीक*—गाय सम्बन्धी झूठ बोलना। जैसे—थोड़ा दूध देनेवाली गाय को बहुत दूध देनेवाली कहना। बहुक्षीरा को अल्पक्षीरा कहना। इसमें ऊँट, घोड़ा, हाथी प्रमुख सब चार पैर वाले जीवों से सम्बन्धित असत्य का ग्रहण हो जाता है।

३ *भूम्यलीक*—पर की भूमि को निज की कहना। इसमें मकान, देश, खेत, सीमा, पहाड़ आदि सब अपद—पैर रहित द्रव्य समा जाते हैं।

४ *न्यासापहार*—धरोहर के सम्बन्ध में असत्य बोलना। पर की वस्तु को रख लेना और वापिस मांगने पर बदल जाना, इन्कार हो जाना।

५ *कूटसाक्षी*—असत्य गवाही देना। अपने लाभ के लिए, दूसरे की हानि के लिए, वैर प्रतिशोध के लिए या अन्य किसी के प्रभाव में आकर कोर्ट—कचहरी, पञ्चायत, संघ आदि में झूठी साक्षी देना। "क्लिष्टाशय समुत्थत्वात् स्थूलासत्यानि" इन में चित्त वृत्तियाँ बड़ी भारी कलुषित होती हैं। अतः यह सब स्थूल असत्य है।

कन्यालीक आदि पहले तीन प्रकार के असत्य सर्व लोक विरुद्ध अति निन्दनीय एवं भर्त्सनीय है। इसलिए इनको वर्जना चाहिए। न्यासापहार विश्वासघात है। झूठी साक्षी धर्म के प्रतिकूल है। क्योंकि प्रतिपक्षी, साक्षी से धर्म की सौगन्द खाने को कहता है "धर्मं ब्रूयात्रा धर्ममिति" धर्मसे कहो। उस समय वह अपने धर्म को भी ताक पर रख देता है। इसलिए यह श्रावक के लिए निषिद्ध है।

'अहिंसा पयस पालि—भूतान्यन्यव्रतानि यत्।
सत्य भङ्गात् पालिभङ्गे उत्गंल विप्लवेत तत्'॥

अहिंसा व्रत एक बांध है। सत्यव्रत उसका सेतु है। ज्यों पाल टूटने से बांध टूट जाता है त्यों ही सत्यव्रत के भङ्ग से अहिंसा व्रत भी टूट जाता है। अतः असत्य महान् पाप है।

एकत्रासत्यज पाप, पापनि:शेषमन्यत ।
द्वयोस्तुलाविधृतयो, राद्यमेवातिरिच्यते ॥'

एक ओर असत्य का पाप और एक ओर सब पाप, इन दोनो को एक तराजू के दो पलड़ों मे तोलें तो असत्य के पाप का पलड़ा ही झुका रहता है। असत्य वचन के कारण भी बड़े निन्दनीय है। मनुष्य क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, कुतूहल, और भय आदिसे असत्य बोलता है। "असत्यवादिन पुसः प्रतीकारो नविद्यते" और-और सब अवगुणों का प्रतिकार है, असत्यवादी की कोई प्रतिक्रिया नहीं। हिंसक है और वह सत्यवादी है तो हम उसकी हिंसा को जान लेंगे और उसे समझा-बुझा कर छुड़वा देंगे। परन्तु जो मनुष्य हिंसा भी करता है और उसे दबाने की चेष्टा करता है, उसका कोई उपाय नहीं हो सकता। इसीलिए यह

कहना उचित है कि असत्य वचन अवगुण आने का द्वार है एवं सत्य वचन सब दोषों का प्रतिकार या चिकित्सा है।

इसके पाँच अतिचार श्रावक को वर्जने चाहिए।

अतिचार *१ सहसाभ्याख्यान*—बिना सोचे समझे किसी के सिर पर झूठा दोष नहीं मढ़ देना चाहिए। जैसे हर किसी को ही कह देना—तू चोर है, तू व्यभिचारी है, इत्यादि संकल्प पूर्वक मिथ्या आरोप लगाना अनाचार है। उससे व्रत भंग हो जाता है।

*२ रहस्याभ्याख्यान*—एकान्त में सलाह करते हुए व्यक्तियों पर आरोप नहीं लगाना चाहिए—उन्हें दोषी नहीं ठहरा देना चाहिए अथवा रहस्य के छल से दो व्यक्तियों के मन को फांटने वाली मन कल्पित बातें नहीं करना चाहिए। जैसे कोई दो आदमी गुप्त मंत्रणा कर रहे हैं उनके प्रति यह आरोप लगा देना कि ये राज्य विरोधी मंत्रणा करते है या किसी के पिता को कह देना कि तुम्हारा प्रिय पुत्र तुम्हें मारने की चेष्टा करता है। इस अतिचार में प्रत्येक बात आशंका से कही जाती है अतः यह पहले अतिचार से भिन्न है।

*३ स्वदार मन्त्र भेद*—पतिको अपनी स्त्रीकी मर्म भरी बात नहीं कहना चाहिए और स्त्री को अपने पति की। इसके अनुसार अपने मित्र आदि किसी का भी मर्म प्रकाशित नहीं करना चाहिए। मर्म प्रकाशक को यह नहीं समझना चाहिए कि मैं सत्य मंत्रणा को प्रकट कर रहा हूं, अतः यह अतिचार नहीं है। मर्म प्रकाशित करने से लज्जा आदि कारणवश अपघात तक के बड़े-बड़े अनर्थ हो जाते है—अतः वस्तुतः यह असत्य वचन है। केवल आशंका से दोषी बनाना—रहस्याभ्याख्यान है और मर्म

को जानते हुए उसे प्रकाशित करना स्वदारमंत्र भेद है। यही इन दोनोंका अन्तर है। इस अतिचारका परमार्थ यही है कि विश्वस्त सूत्र को—विश्वास के आधार पर कहे हुए वार्तालाप (बात) को प्रकाश में लाना, चाहे वह किसी के भी क्यों न हो। संसारमे स्त्री और पुरुप का सम्बन्ध अधिक विश्वस्त माना जाता है। अतः इस अतिचार को "स्वदारमंत्र भेद" के नाम से स्थापित किया है।

४ *मिथ्या उपदेश*—किसी प्रकारका झूठा उपदेश नहीं देना चाहिए। जैसे—मैंने अमुक काल में इस प्रकार मिथ्या भापण कर उसे जीता था। इत्यादि कह कर दूसरों को असत्य वचन कहने में प्रेरित करना अथवा पर पीडाकारी, हिंसाकारी वचन कहना आदि २। प्रमादवश इस प्रकार का उपदेश देना, जैसे चोरों को मारना चाहिए इत्यादि, अथवा अयथार्थ उपदेश देना मिथ्या उपदेश है।

५ *कूट लेख*—झूठा खत नहीं लिखना चाहिए। नकली नोट छापना, जाली कागज लिखना, बिन्दियों को बढ़ा कर धन राशि का परिमाण बढ़ा देना आदि सब इसमे अन्तर्विष्ट हो जाते हैं।

मैंने झूठ बोलने का त्याग किया था—यह तो झूठा लेख है, झूठ बोलना नहीं है। इस प्रकार व्रत की अपेक्षा रखते हुए, व्रत का पूरा आशय न समझ कर ऐसा करना अतिचार है और जान बूझकर कूट लेख लिखना अनाचार है।

आलोचना—इनके आचरण से कोई पाप लगा तो वह मेरे लिए निष्फल हो।

एक दिन सत्यवादिता के कारण भारत का सिर गौरव से उन्नत था। दुनिया के अञ्चल तक इसका यश परिमल फैल चुका परिशिष्ट

था। विदेशागत यात्रियों ने बड़े गौरव के साथ इस बात का उल्लेख किया है कि भारत के लोग बड़े सत्यवादी है। सारे कारोबार मौखिक चलते थे। साक्षी तो दूर, लिखने की भी कोई आवश्यकता नहीं थी। एक दिन आज का है, जो अपने हाथों से लिखे हुए खत को इन्कार करने में न केवल सङ्कोच ; अपितु गौरव समझते हैं। यह निश्चित है कि आज के विपाक्त वातावरण से मनुष्य सहज ही प्रभावित हो जाता है, तो भी श्रावक को इससे बचना चाहिए। इस व्रत के अनुसार श्रावक को स्थूल असत्य नही बोलना चाहिए। सूक्ष्म असत्य से भी जहाँ तक हो सके बचना चाहिए। असत्यवादी से लोग घृणा करते हैं। उसकी नेकी पर किसी को भी विश्वास नहीं होता। अविश्वास से उसे बड़ा धक्का पहुंचता है। प्रतिष्ठा का लोप होता है। सत्यव्रती को निरन्तर सत्य का आदर करना चाहिए। झूठमूठ दोष का आरोप करना, किसीको व्यर्थ कलंकित करना, विश्वस्त मन्त्र को प्रकट करना, मिथ्या उपदेश देना, झूठा लेख लिखना आदि महान् अवगुण हैं। इन्हीं के कारण आज द्वेष का ज्वालामुखी फूट रहा हैं। युद्धाग्नि के स्फुलिंग गगन को धूमिल कर रहे है। न्यायालय के विशाल भवनाकाश के आंगन को छू रहे हैं। न्यायाधीश और वकीलों की संख्या से भी जनसमूह का एक बड़ा भाग रुका हुआ है। घूसखोरी का बाजार गम हो रहा है। क्या यही समाज की उन्नत दशा है ? क्या यही सभ्य समाज के चिह्न हैं ? ऐसा सामाजिक निर्माण आज कहाँ है, जो सत्य के आधार पर प्रतिष्ठित हो, नेकनीयत की भीत्ति पर जिसका जीवन टिका हो ? श्रावक को इस सत्य व्रत का उदात्त चेष्टा से पालन करना

चाहिए। जिससे उसका जीवन सत्यता पर आधारित हो सके, अनुकरणीय बन सके और उच्च एवं पवित्र ध्येय वाले समाज की नींव डाल सके। श्रावक को सत्यभाषिता के साथ साथ कटुकर्कश वाणी का संवरण करना चाहिए। जिससे "सत्ये नास्ति भय क्वचित्" यह वाक्य सत्य सिद्ध हो सके। जैसा कि वर्तमान आचार्य श्री का उपदेश है—

"कटु कर्कश भाषा मति बोलो,
बोलो तो वयण रयण तोलो,
तो लोक उभय भय नहीं डोलो।"

वाणीका सत्य प्रयोग नम्रता एवं मृदुतासे भावित होकर सोने में सुगन्ध की कहावत को चरितार्थ करता है। एक महत्त्वपूर्ण उल्लेख के साथ प्रस्तुत विषय को अब पूरा करना है।

"सत्यवादिता अत्याचारों को छोड़ने का एक सर्व श्रेष्ठ उपाय है। सत्यवादी अवगुणों से बचा रहता है, वह कभी अत्याचार नहीं कर सकता। सत्य के और अत्याचारों के बीच विरोध की दीवार खड़ी रहती है।"

# तीसरा अणुव्रत

अस्तेय

मूल पाठ

तइयं अणुव्वयं-थूलाओ अदिण्णा-दाणाओ-वेरमणं सेय अदिण्णादाणे पंचविहे पन्नत्ते तंजहा १ खत्तखणणं २ गंठिभेअणं ३ जंतुग्घाडणं ४ पडिय वत्थुहरणं ५ ससामिअ-वत्थुहरणं इच्चेवमाइस्स थूलअदिण्णादाणस्स पच्चक्खाणं जावज्जीवाए दुविहं-तिविहेणं न करेमि न कारवेमि मणसा वयसा कायसा एअस्स तइयस्स थूलग-अदिण्णा- दाण-वेरमणस्स समणोवासएणं पञ्च अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा १ तेनाहडे २ तक्करप्पओगे

३ विरुद्धरज्जाइक्कमे ४ कूडतुल्लकूडमाणे ५ तप्पडि-रूवगववहारे जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।

छाया

तृतीयं अणुव्रतं-स्थूलाद् अदत्ताऽदानाद्-विरमणं तच्च अदत्तादानं पञ्चविधं प्रज्ञप्तं तद्यथा १ खात्र खननं २ ग्रन्थिभेदनं ३ यन्त्रोद्घाटनं ४ पतितवस्तु हरणं ५ सस्वामिक-वस्तु हरणं इत्येवमादेः स्थूलाऽदत्तादानस्य प्रत्याख्यानं यावज्जीवं द्विविधं त्रिविधेन न करोमि न कारयामि मनसा वचसा कायेन एतस्य तृतीयस्य स्थूलकाऽदत्ता दान-विरमणस्य श्रमणोपासकेन पञ्च अतिचाराः ज्ञातव्याः न समाचरितव्याः तद्यथा १ स्तेनाहृतम् २ तस्करप्रयोगः ३ विरुद्ध-राज्यातिक्रमः ४ कूटतौल्य-कूटमानं ५ तत्-प्रतिरूपकव्यवहारः यो मया दैवसिकः अतिचारः कृतः तस्य मिथ्या मे दुष्कृतम् ।

शब्दार्थ

तइयं—तीसरे
अणुव्वयं—अणुव्रत
थूलाओ—स्थूल
अदिण्णादाणाओ—अदत्तादानका
वेरमणं—विरमण
सेय—वह
अदिण्णादाणे—अदत्तादान
पञ्चविहे—पाच प्रकार का

पन्नत्ते—कहा है
तंजहा—वह इस प्रकार है
खत्तखणणं—खात खनना
गंठिभेअणं—गाठ खोलना
जंतुग्घाडणं—ताला तोडना
पडियवत्थुहरणं —पड़ी हुई वस्तु को लेना
ससामिअ—स्वामी सहित

भावार्थ

हे गुरुदेव ! मैं तीसरे अणुव्रत में स्थूल अदत्तादान से निवृत्त होता हूं। मैं जीवन पर्यन्त किसी के मकान की भींत फोड़ कर, गांठ खोल कर, ताला तोड़ कर, मार्ग में पड़ी बहुमूल्य मालकियत की वस्तु उठा कर, सस्वामीक वस्तु का अपहरण कर, लूट-खसोट कर, अदत्त वस्तु को लेने का और इस प्रकार की निन्दनीय बड़ी चोरी करने का, दो करण तीन योग से प्रत्याख्यान करता हूं।

विवेचन

अदत्त+आदान, अदत्त—नहीं दी हुई वस्तु का आदान—ग्रहण करना अदत्तादान है। अदत्तादान चोरी है। चोरी अनेक प्रकार की होती है। सजीव वस्तु की, अजीव वस्तु की, आदि-आदि। वास्तविकता को छिपाना चोरी है, चाहे वह किसी वस्तु सम्बन्धी हो। जैसे—तपस्या के विना अपने आपको तपस्वी एवं सदाचार के विना सदाचारी कहना आदि। दूसरे के अधिकारों को हड़पना आदि कार्य भी चोरी है। प्रश्नव्याकरण में यहां तक लिखा है कि अस्तेय-व्रतधारी को पर-परिवाद—निन्दा नहीं करना चाहिए, पर के दोष नहीं कहना चाहिए, चुगली नहीं करना चाहिए। ईर्ष्या-अदेखाई नहीं करना चाहिए। यह चोरीका सार्वभौम स्वरूप है। श्रावक स्थूल चोरी का त्याग करता है, सूक्ष्म का नहीं। जिस अदत्तादान से चोरी का अपराध लग सकता हो, वह स्थूल अदत्तादान है। दुष्ट अध्यवसाय से स्वामी की आज्ञा के बिना साधारण वस्तु लेना भी स्थूल अदत्तादान है

अदत्तादान

स्थूल अदत्ता-दान विरति

बड़ी चोरी के पाँच मुख्य प्रकार बतलाये हैं।

१—खात्रखनन—खात खनकर, भींत फोड़ कर, पर की चीज चुराना।

२—ग्रन्थिभेदन—गाँठ खोल कर, सन्दूक-बक्स आदि खोल कर कोई चीज चुराना।

३—यंत्रोद्घाटन—ताला तोड़ कर या चाबी से ताले को खोल कर, जेब काट कर चोरी करना।

४—पतित वस्तु हरण—चीज का मालिक आगे चल रहा है, उसके पास से कोई चीज गिर गई, उसे उठा लेना, विस्मृत आदि भी इसके अन्तर्गत है। विस्मृत-वस्तु का मालिक वस्तु को रख कर भूल जाता है, उसे उठा लेना। आहित—जमीन में गड़ी हुई धनराशि को खोद कर निकाल लेना।

५—सस्वामीक वस्तुहरण—स्वामीका पता होते हुए भी किसी पड़ी वस्तु को ले लेना। डाका डालना, लूट-खसोट करना, यह सब स्थूल चोरी है। यह राज्य से दन्डनीय है, जन साधारण में निन्दनीय है, आत्म गुण की घातक तो है ही। अतः श्रावक इस प्रकार की चोरी से विरक्त रहता है।

अतिचार

इसके पांच अतिचार श्रावक को वर्जने चाहिए।

१ *स्तेनाहृत*—लोभ आदिसे चोरी की वस्तुको अल्प मूल्य में नहीं लेना चाहिए। (इसका यह अर्थ नहीं कि पूरे मूल्य में खरीद लेना चाहिये। क्योंकि चोरी की चीज को जान-बूझ कर पूरे दामों मे कौन लेता है, वह तो लाभ की दृष्टि से लालच से ली जाती है इत्यादि)।

२ *तस्कर प्रयोग*—चोरको शस्त्र आदि की सहायता नहीं देनी चाहिए, आश्रय नहीं देना चाहिए। चोरों को चोरी के लिए प्रेरित नहीं करना चाहिए। जैसे—तुम्हारी चुराई हुई वस्तु को कोई वेचने वाला नहीं है तो मैं वेच दूंगा इत्यादि।

६ *विरुद्धराज्यातिक्रम*—परस्पर विरोधी राजाओं के राज्य में व्यापारादि के निमित्त प्रवेश कर राज्य व्यवस्था का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। युद्ध के समय एक राज्य से दूसरे राज्य में आने-जाने का निषेध होता है। अथवा एक देश से दूसरे में नियम के विरुद्ध अन्न भेजना, शत्रु के देश में जाना, शत्रु को समाचार भेजना इत्यादि। जिन कारणोंसे अवहेलनापूर्वक चौर्य्य दण्ड दिया जा सके, ऐसे काम श्रावक को नहीं करना चाहिए।

४ *कूटतौल्य-कूटमान*—हीनाधिक तौल और मापसे क्रय विक्रय नहीं करना चाहिए। धान्य आदि को तराजू से वेचने के समय थोड़ा और लेने के समय अधिक नहीं तौलना चाहिए। वस्त्र आदि को गज आदि से वेचने के समय थोड़ा और लेने के समय अधिक नहीं मापना चाहिए।

५ *तत्प्रतिरूपक व्यवहार*—वहुमूल्य वस्तु में अल्पमूल्य वस्तु, जो उसीके सदृश है, मिला कर वेचना, अच्छी चीज दिखा कर बुरी चीज देना, घी में वेजीटेवल (Vegetable) मिला कर वेचना, शक्कर में आटा मिला कर वेचना, असली सोने के वदले नकली सोना वना कर वेचना आदि कार्य श्रावक को नहीं करने चाहिए।

आलोचना—इनके योग से पाप लगा हो तो वह मेरे लिये निष्फल हो।

व्रत के दो अतिचार: क्यो ?

कूटतौल, कूटमाप और प्रतिरूप क्रिया, ये दोनों वस्तुवृत्त्या अतिचार हैं। इनको अतिचार की संख्या में क्यों परिगणित किया गया है ? इन दोनों व्यवहारों में अल्प मूल्य की वस्तुओं के बदले अधिक मूल्य लिया जाता है, अतः यह अदत्तादान है। यह स्पष्ट रूपसे पर-धन का ग्रहण है। यह सत्य है, पर श्रावक अचौर्य व्रत की रक्षा को तत्पर रहता हुआ व्यापार व्यवस्था के अनुसार, या व्यापार कौशल की भावना से या असावधानी से ऐसा करे, उस परिस्थिति में यह सब अतिचार है। पहले तीनों के सम्बन्ध में भी इस प्रकार समझना चाहिए।

अहिंसा व्रत भङ्ग

पर-धन ग्रहण से न केवल अचौर्यव्रत ही भङ्ग होता है अपितु अहिंसा व्रत भी खंडित हो जाता है। धन-हरण मनुष्य के प्राण नाश की तरह दुःख का हेतु है। श्वास और आभ्यन्तर प्राणों की भांति सोने-चाँदी पर भी मनुष्य का ममत्व होता है। धन का नाश मृत्यु से भी असह्य है। धनक्षय से मानव विह्वल हो उठता है। चेतना लुप्त हो जाती है वेदना की विराट् अनुभूति होने लग जाती है। चोरी करना निःसंदेह हिंसा है, अहिंसा व्रत का खंडन है।

चोरी के कारण

चोरीहेतु सापेक्ष है। चोरी का सर्व साधारण हेतु असंतुष्टि है। जैसा कि उत्तराध्ययन में लिखा है—

"अतुट्ठी दोसेणदुही परस्स, लोभाविले आययइ अदत्त"

मनुष्य चोरी क्यों करता है ? इसका यह समाधान है— "अतुष्टि दोष से दुःखी मनुष्य लोभग्रस्त होकर अदत्त का ग्रहण करता है।" संतोषी पुरुष ऐसा कभी नहीं करता। विशेष रूप से असंतोष को उभारनेवाले द्यूत प्रमुख दुर्व्यसन, अधिक व्यय,

कुसंगति, अशिक्षा, यशलोलुपता, देखादेखी, ऐश-आराम, सामाजिक अव्यवस्था आदि अनेक चोरी के निमित्त हैं। चोरी का त्याग परम पुरुषार्थ का साधन है। वे पुरुष धन्य है जो चोरी का त्याग करते हैं। पर संपत्ति को देख कर जिसका मन डांवा-डोल नहीं होता, जो पुरुष पर-धन को धूल मानता है, पर-धनराशि के ग्रहण को अपनी पराजय समझता है, वही दुनिया में सबसे बड़ा धनी और सुकृति है।

परिशिष्ट

तीसरा व्रत मनुष्य बनने का उपदेश देता है। सुखी बनना सिखाता है। सबसे बड़ा सुख अपने अधिकारों की सीमा में रमण करना है। परकीय वस्तुहरण की राक्षसी वृत्ति मनुष्य को अशान्त और व्याधिग्रस्त बनाती है। इसलिये सुख-समाधि में रमण करने के लिये मनुष्य को स्वकीयता की मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए। चोरी की आसुरी वृत्ति ने केवल कई व्यक्तियों को ही उपद्रुत नहीं किया है, अपितु देश और समाज की दुर्दशा कर डाली। मनुष्य को मनुष्यत्व से च्युत कर दिया। हृदय आतंकपूर्ण बना दिये। इसके प्रताप से ताले-कुंजी और आलमारियों के बड़े २ कारखाने प्रतिस्पर्धा से अपना काम कर रहे हैं। केवल चोरी करने वाला ही चोर नहीं, कराने वाला, सहायता देने वाला भी चोर है। असद् व्यवहार चोरी करने का मुख्य साधन है। जितने अधिक असद् व्यवहार लोगों के सामने आ रहे हैं, उतना ही अधिक चोरी का साहस और चोरी के तरीके बढ़ रहे है। अयोग्य अधिकारी एवं अवांछनीय कानूनों को जबरन जनता पर और विशेष रूप से व्यापारियों के सिर पर थोपने वाली शासनव्यवस्था के कारण चौर्यवृत्ति को नव जीवन

प्राप्त होता है। मनोविज्ञान यह बतलाता है कि चोरी में राज्य और प्रजा दोनों का हाथ रहता है। राजा ( राज्य व्यवस्था ) और प्रजा की अनधिकार और अनुपयोगी चेष्टा ही मुख्यतया चोरी का कारण बनती है। बड़े २ व्यापारियों का यह व्यापार साधन है। परिस्थितियाँ जितनी जटिल हो सकती हैं, आज उतनी ही जटिल हैं। समाज के समाज और देशके देश इस चक्र में फँसे हुए हैं। इस वातावरणमें केवल आत्म-शुद्धि के लक्ष्य से ही चोरी का प्रत्याख्यान किया जा सकता है। श्रावक का लक्ष्य आत्म-शुद्धि होना चाहिए और उस लक्ष्य के अनुसार श्रावक को अन्याय क्षेत्र की साकार रूप चोरी का प्रत्याख्यान करना ही श्रेयस्कर है।

## चौथा अणुव्रत

### ब्रह्मचर्यव्रत

### मूल पाठ

चउत्थं अणुव्वयं थूलाओ मेहुणाओ वेरमणं जावज्जीवाए दिव्वं दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि मणसा वयसा कायसा माणुस्सं तिरिक्ख-जोणियं एगविहं एगविहेणं न करेमि कायसा एअस्स चउत्थस्स थूलग मेहुण-वेरमणस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहाः-
१ इत्तरियपरिग्गहियागमणे २ अपरिग्गहियागमणे ३ अणंगकिड्डा ४ परविवाहकरणे ५ काम-भोग-तिव्वाभिलासे जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।

छाया

चतुर्थं अणुव्रतं स्थूलाद् मैथुनाद् विरमणं यावज्जीवं दैवं द्विविधं त्रिविधेन न करोमि न कारयामि मनसा वचसा कायेन मानुषं तिर्यग्योनिकं एकविधं एकविधेन न करोमि कायेन एतस्य चतुर्थस्य स्थूलक मैथुन विरमणस्य श्रमणोपासकेन पञ्चातिचाराः ज्ञातव्याः न समाचरितव्याः तद्यथा १ इत्वरपरिगृहीतागमनम् २ अपरिगृहीतागमनम् ३ अनङ्गक्रीड़ा ४ परविवाहकरणं ५ काम-भोग-तीव्राभिलाषः यो मया दैवसिकः अतिचारः कृतः तस्य मिथ्या मे दुष्कृतम् ।

शब्दार्थ

चउत्थं—चौथा
अणुव्वयं—अणुव्रत
थूलाओ—स्थूल
मेहुणाओ—मैथुन से
वेरमणं—विरमण (विरत होना)
जावज्जीवाए—जीवनपर्यन्त
दिव्वं—देवता सम्बन्धी
दुविहं—दो करण
तिविहेणं—तीन योग से
न करेमि—न करू
न कारवेमि—न कराऊँ
मणसा—मन से
वयसा—वचन से
कायसा—शरीर से
माणुस्सं—मनुष्य सम्बन्धी
तिरिक्खजोणियं—तिर्यंच सम्बन्धी
एगविहं—एक करण
एगविहेणं—एक योग से
न करेमि—न करूँ
कायसा—शरीर से
एअस्स—इस
चउत्थस्स—चतुर्थ
थूलग—स्थूल
मेहुण—मैथुन
वेरमणस्स—विरमणव्रत के
समणोवासएणं—श्रमणोपासक को ।

पंच अइयारा—पाच अतिचार
जाणियव्वा—जानने चाहिये
न—नही
समायरियव्वा—ग्रादरने चाहिए
तंजहा—वे इस प्रकार है
इत्तरियपरिग्गहियागमणे—भाडा देकर कुछ कालके लिये अपने अधीन की हुई स्त्रीसे आलाप-सलापरूप गमन करना
अपरिग्गहियागमणे—विवाहित पत्नीके सिवाय वेश्या आदि से आलाप-सलापरूप गमन करना
अणंगकिड्डा—अस्वाभाविक रीति से कामक्रीड़ा करना
परविवाहकरणे—पर सतति का विवाह करना।
कामभोगतिव्वाभिलासे—कामक्रीडा तीव्र अभिलाषा (अति आसक्ति) से करना।
जो—जो
मे—मैंने
देवसिओ—दिन सम्बन्धी
अइयारो—अतिचार
कओ—किया हो तो
तस्स— उसका
मिच्छामि—निष्फल हो
दुक्कडं—पाप

भावार्थ

हे गुरुदेव ! मैं चतुर्थ अणुव्रत मे स्थूल मैथुन अर्थात् अपनी परिणिता स्त्री के सिवाय शेष सब स्त्रियोंके साथ मैथुन सेवन करने से निवृत्त होता हूं। मैं जीवन पर्यन्त देवता, देवाङ्गना सम्बन्धी मैथुन नहीं सेवूंगा, नही सेवाऊंगा, मन, वाणी और काया से। पुरुष, स्त्री, तिर्यंच, तिर्यंचिनी सम्बन्धी मैथुन शरीर से नहीं सेवूंगा। स्व स्त्री सम्बन्धी मैथुन मर्यादा के उपरांत शरीर से नहीं सेवूंगा।

विवेचन

अब्रह्मचर्य "मैथुनमब्रह्म"—मिथुन नाम जोड़े का है। जोड़ा स्त्री-पुरुष स्त्री-स्त्री एवं पुरुष-पुरुष का हो सकता है। ऐसे जोड़े की काम-राग के आवेश से उत्पन्न होने वाली मानसिक, वाचिक एवं कायिक प्रवृत्तियां मैथुन (अब्रह्म) कहलातीं हैं। इसका असली अर्थ तो कामराग-जनित चेष्टा है। चाहे वह केवल पुरुष या केवल स्त्री की ही हो। मैथुन का विस्तृत अर्थ काम-रागोत्पन्न चेष्टा ही करना होगा। मैथुन शब्द तो सिर्फ लाक्षणिक है। यह अब्रह्माचरण है। जिसके आचरण से सद्गुणकी वृद्धि होसके उसका नाम ब्रह्म है। और जिसके आचरण से अवगुण बढ़ सके उसका नाम अब्रह्म है। अब्रह्मचर्य अवगुणों की खान है। मन इससे क्लांत एवं विकल हो जाता है। वाणी की सुधबुध चली जाती है। स्वास्थ्य गिर जाता है। जागृत चेतना भी सुषुप्ति की गोद में चली जाती है। और भी क्या २ दोष नहीं, जो इसमें नहीं फलते ? इसलिए यह त्यागने योग्य है।

मैथुन दो प्रकार का है—सूक्ष्म और स्थूल। मन, इन्द्रिय और वाणी में जो अल्प विकार उपजता है, वह सूक्ष्म मैथुन है और जो औदारिक या वैक्रिय शरीरके साथ काम-चेष्टा की जाती है वह स्थूल मैथुन है। श्रावक स्थूल मैथुन का प्रत्याख्यान करता है, अतः यह व्रत स्थूल मैथुन-विरति कहलाता है। अथवा मैथुन का त्याग देशतः और सर्वथा, दोनों प्रकार से होता है। श्रावक मैथुन का त्याग आंशिक रूप से करता है। इसलिए यह स्थूल मैथुन विरति है। इसका दूसरा नाम स्वदार-संतोष है। स्त्री के लिए स्वपति-संतोष है। कई ग्रन्थों में इसको परदारगमन विरति

भी कहा है। वह केवल नामान्तर है। भावार्थ सब का एक है।

इस व्रत के पांच अतिचार श्रावकको वर्जने चाहिए।

(१) *इत्वरपरिगृहीता गमन*—थोड़े समय के लिए वेतन आदि साधनों से अपने अधीन की हुई या किसी दूसरे के अधीन की हुई साधारण स्त्री के साथ आलाप-संलाप-रूप गमन नहीं करना चाहिए।

२ *अपरिगृहीता गमन*—वेश्या या वैसी कोई दूसरी साधारण अनाथ विधवा, कन्या, कुलवधू (जिसका पति विदेश गया हो) आदि (अपनी विवाहिता पत्नी के सिवाय सब) के साथ आलाप-संलाप-रूप गमन नहीं करना चाहिए।

*शङ्का*—पर स्त्री और वेश्या के साथ भोगरूप गमन करना स्वदार-संतोष व्रत मे अनाचार है तो फिर अतिचार की संख्या मे इनका ग्रहण क्यों?

उत्तर—ये दोनों अतिक्रमण आदि की अपेक्षा से अतिचार हैं। जैसे इत्वरपरिगृहीता और अपरिगृहीता स्त्री के साथ काया से भोग करने का संकल्प करना अतिक्रम है, भोग करनेको उद्यत हो जाना व्यतिक्रम है और भोग के उपायभूत आलाप-संलाप आदि करना अतिचार है। ऐसा करने से व्रत एक देश से खण्डित होता है। सुई-डोरा की विधि से पर स्त्री आदि के साथ मैथुन सेवन करने से व्रत सर्वथा खण्डित हो जाता है। अतः यह तो अनाचार है ही। इसीलिए अतिचार के प्रकरण में इनके साथ आलाप-रूप गमन करने का निषेध किया है।

३ *अनङ्गक्रीड़ा*—जो काम सेवन के प्राकृतिक अङ्ग हैं, उनके विरुद्ध श्रावक को काम-क्रीड़ा नहीं करनी चाहिए। परस्त्री से मैथुन सेवन करने का त्याग तो श्रावक के होता ही है, किन्तु इस अतिचार का आशय यह है कि उनसे कामानुराग सहित आलिंगन आदि भी नहीं करना चाहिए। तथा हस्त-कर्मादि अति घृणित पाशविक कार्य नहीं करना चाहिए।

४ *पर विवाह करना*—स्व संतति के उपरान्त दूसरे की सन्तति-पुत्र-पुत्री आदि का विवाह नहीं कराना चाहिए। स्वदार संतोषी श्रावक के लिए दूसरों को विवाहित कर मैथुन में प्रवृत्त करना अनुचित है। अपने घर का प्रबन्ध करने के लिए भी यदि वह विवश न हो तो स्व सन्तति के विवाह का त्याग करना भी श्रावक के लिए उचित है।

५ *कामभोग तीव्राभिलाष*—कामशास्त्र-कथित प्रयोगों द्वारा तथा कामोत्तेजक औषधियों से कामबाधा को बार-बार उद्दीप्त कर क्रीड़ा नहीं करना चाहिए। पांच इन्द्रिय के विकारों में अति आसक्त—अंध नहीं होना चाहिए। अति कामान्ध धर्म, कर्म, व्रत, अव्रत का कुछ खयाल नहीं करता। वह तो निरन्तर रति-क्रीड़ा को ही सुख मान लेता है, जिससे व्रत-भङ्ग की सम्भावना रहती है। अतः यह अतिचार है।

आलोचना—इनके सेवन से कोई दोष लगा हो तो वह मेरे लिए निष्फल हो।

परिशिष्ट ब्रह्मचर्य की महिमा अनन्त है। उसे कोई सीमाबद्ध नहीं कर सकता। बड़े-बड़े ऋषि-महर्षियोंने इसके यशोगान गाये, तथापि

इसका लक्षांश बतलानेमें भी उन्होंने अपने को असमर्थ पाया। ब्रह्मचर्य का जितना अधिक महत्व है, उतना ही अधिक कठिन इसका पालन है और जितना कठिन है, उतना ही आवश्यक है। अब्रह्मचर्य पशु-क्रिया है। अजितेन्द्रिय पुरुष ही उसमें प्रवृत्त होता है। मन और इन्द्रियों पर नियन्त्रण करना महान् पुरुषार्थ है। अब्रह्म को शरीरधर्म या प्राकृतिक लालसा मानकर उसकी पूर्ति को आवश्यक नहीं मानना चाहिए। यह तो इन्द्रिय और मन की उच्छृङ्खलता है। इसका दमन करना महापुरुष का काम है। कामी मनुष्य कदापि तृप्ति का अनुभव नहीं करता। काम से काम की लालसा शांत नहीं होती। जैसेः—

घृत की आहुति से नही बुझती है आग,
नही बुझता है कही स्नेह से चिराग।
मरु मरीचिका से नही मिटती है प्यास,
विषय रसास्वादनसे नही मिटती है विषयकी अभिलाष।

भोग सेवन से भोगों की वृद्धि होती है।

'स्त्री सम्भोगेन यः, काम-ज्वर प्रतिचिकीर्षति।
स हुताशं घृताहुत्या, विध्यापयितुमिच्छति॥'

जो पुरुष स्त्री-संभोग से काम-बाधा को शांत करना चाहता है, वह घी की आहुति से अग्नि को शांत करना चाहता है। काम को जीतने का साधन विरक्ति है, मानसिक शुद्धि है। शरीर का अशुचित्व और अनित्यता का चिंतन, इससे विरत होने के उपाय हैं। अब्रह्मचर्य की उच्छृङ्खलता से धार्मिक पतन के साथ साथ सामाजिक और राष्ट्रीय पतन का भी घनिष्ट सम्बन्ध है। इसलिए स्वदारसंतोषव्रत श्रावक को ब्रह्मचर्य पालने का आदेश करता है।

समर्थ मनोबल के विना पूरा ब्रह्मचर्य नहीं पाला जाये तो यह जरूरी है कि अब्रह्मचर्य को सीमित करे। श्रावक इसके आदेशानुसार विश्व की समस्त अङ्गनाओं पर प्रवृत्त होनेवाली काम-चेष्टा को संकुचित कर उसे एक (स्व विवाहित) स्त्री पर सीमित कर देता है और उसको नियमित करता रहता है तथा आगे जाकर वह उसका बिलकुल त्याग कर देता है। काम एक भयानक विष है। उसको निःसत्व करने की यह समुचित प्रक्रिया है। यह विष-वैद्य की प्रणाली है। विष-चिकित्सक समूचे शरीर में व्याप्त जहर को बटोर कर पहले डंकके स्थल में ले आता है और फिर उसे निकाल बाहर फेंकता है। इस व्रत का क्रम भी ठीक ऐसा ही है। अपरिगृहीता, परिगृहीता आदि के साथ सम्पर्क करने से समाज और जाति की कितनी दुर्दशा होती है, यह स्वयंज्ञात है। श्रावक को इस प्रकार के कार्यों से अपने धार्मिक गौरव एवं समाज और राष्ट्र को भी पतित नहीं करना चाहिये। ब्रह्मचर्य व्रत का पूरा-पूरा आदर करना श्रावक का परम कर्त्तव्य है। इसमें सब का कल्याण है। जैसे—

> चिरायुषः सुसस्थाना, दृढसहनना नरा.।
> तेजस्विनो महावीर्या, भवेयुर्ब्रह्मचर्यत.॥.

ब्रह्मचारी पुरुष दीर्घजीवी, सुडौल, मजबूत, तेजस्वी और महापराक्रमी होते हैं। आधुनिक सभ्यता के नाम पर अब्रह्मचर्य को पुष्ट करना अनार्यत्व का लक्षण है। मैथुन से कदापि सभ्यता पल्लवित नहीं हो सकती। वे पुरुष अनार्य हैं, जो काम-चेष्टा को प्रोत्साहित करने का प्रयास करते हैं। श्रावक को अपने लक्ष्य को दृष्टिगत रखते हुए ऐसा नहीं करना चाहिए।

# पांचवां अणुव्रत

अपरिग्रह व्रत

मूल पाठ

पंचमं अणुव्वयं थूलाओ परिग्गहाओ वेरमणं १ खेत्तवत्थुणं जहापरिमाणं २ हिरण्ण-सुवण्णाणं जहापरिमाणं ३ धणधन्नाणं जहापरिम.णं ४ दुप्पय-चउप्पयाणं जहापरिमाणं ५ कुवियस्स जहापरिमाणं एवं मए जहापरिमाणं कयं तओ अइरित्तस्स परिग्गहस्स पच्चक्खाणं जावज्जीवाए एगविहं तिविहेणं न करेमि मणसा वयसा कायसा एअस्स पंचमस्स थूलगपरिग्गह-परिमाणव्वयस्स समणोवासएणं पंचअइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा १ खेत्तवत्थुप्पमाणाइक्कमे २ हिरण्ण-सुवण्णप्पमाणा-

इक्कमे ३ धणधन्नप्पमाणाइक्कमे ४ दुप्पय-चउ-प्पयप्पमाणाइक्कमे ५ कुवियप्पमाणाइक्कमे जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

छाया

पञ्चमं अणुव्रतं स्थूलाद् परिग्रहाद् विरमणं १ क्षेत्रवास्तूनाम् यथापरिमाणं २ हिरण्य-सुवर्णानाम् यथापरिमाणं ३ धनधान्यानाम् यथापरिमाणं ४ द्विपदचतुष्पदानां यथापरिमाणं ५ कुप्यस्य यथा-परिमाणं एवं मया यथापरिमाणं कृतम् ततः अतिरिक्तस्य परि-ग्रहस्य प्रत्याख्यानं यावज्जीवं एकविधं त्रिविधेन न करोमि मनसा वचसा कायेन एतस्य पञ्चमस्य स्थूलक-परिग्रहपरिमाण-व्रतस्य श्रमणोपासकेन पञ्चातिचाराः ज्ञातव्याः न समाचरितव्याः तद्यथा १ क्षेत्रवस्तुप्रमाणातिक्रमः २ हिरण्य-सुवर्ण-प्रमाणातिक्रमः ३ धन-धान्यप्रमाणातिक्रमः ४ द्विपद्-चतुष्पद्प्रमाणातिक्रमः ५ कुप्य-प्रमाणातिक्रमः यो मया दैवसिकः अतिचारः कृतः तस्य मिथ्यामे दुष्कृतम्।

शब्दार्थ

पंचमं—पाचवां
अणुव्वयं—अणुव्रत
थूलाओ—स्थूल
परिग्गहाओ—परिग्रह से
वेरमणं—विरमण (निवृत्त होता हूँ)
खेत्तवत्थुणं—क्षेत्रवास्तु का
जहापरिमाणं—यथापरिमाण
हिरण्ण-सुवण्णाणं—हिरण्य-सुवर्ण का
जहापरिमाणं—यथापरिमाण
धणधन्नाणं—धन-धान्य का
जहापरिमाणं—यथापरिमाण
दुप्पय—द्विपद
चउप्पयाणं—चतुष्पद का

जहापरिमाणं—यथापरिमाण

कुवियस्स—कुप्य तथा घर सामग्रीका

जहापरिमाणं—यथापरिमाण

एवं—इस प्रकार

मए—मैंने

जहापरिमाणं—जैसा परिमाण

कयं—किया

तओ—उसके

अइरित्तस्स—उपरात

परिग्गहस्स—परिग्रह रखने का

पच्चक्खाणं—प्रत्याख्यान

जावज्जीवाए—जीवनपर्यंत

एग-विहं—एक करण

तिविहेणं—तीनयोगसे (प्रमाणाधिक परिग्रह का सचय)

न—न

करेमि—करूँ

मणसा—मनसे

वयसा—वचनसे

कायसा—कर्मसे

एअस्स—इस

पंचमस्स—पाचवें

थूलगपरिग्गह—स्थूल परिग्रह

परिमाणव्वयस्स—परिमाणव्रत के

समणोवासएणं—श्रावक को

पंचअइयारा—पाच अतिचार

जाणिअव्वा—जानने चाहिए

न—नहीं

समायरियव्वा—आचरण करना चाहिए

तंजहा—वे इस प्रकार है—

खेत्तवत्थुप्पमाणाइक्कमे-क्षेत्रवास्तु-प्रमाण का अतिक्रमण करना

हिरण्ण-सुवण्णप्पमाणाइक्कमे—हिरण्य-सुवर्ण प्रमाण का अतिक्रमण करना

धणधन्नप्पमाणाइक्कमे—धनधान्य प्रमाण का अतिक्रमण करना

दुप्पय चउप्पयप्पमाणाइक्कमे—द्विपद चतुष्पद प्रमाण का अतिक्रमण करना

कुवियप्पमाणाइक्कमे—कुप्य परिमाण का अतिक्रमण करना

जो—जो

मे—मैंने

देवसिओ—दिवस सम्बन्धी

अइयारो—अतिचार

कओ—किया

तस्स—उनके सब पाप

मिच्छामि—निष्फल हो

दुक्कडं—पाप

भावार्थ

हे गुरुदेव! मैं पांचवें अणुव्रत में स्थूल परिग्रह से निवृत्त होता हूं।

१—क्षेत्र—खेत आदि खुली जमीन।

२—वास्तु—घर आदि ढंकी हुई जमीन तथा गाँव-नगर आदि।

३-४—हिरण्य (चांदी) सुवर्ण (सोना) तथा चांदि-सोना के आभूषण, वर्तन आदि।

५—धन—रुपये, मोहरें सिक्के, जवाहरात, वस्त्र आदि।

६—धान्य—गेहूं, चना, जव, मक्का आदि।

७—द्विपद—दो पैरवाले, दास-दासी, नौकर-नौकरानी आदि।

८—चतुष्पद—चार पैर वाले, हाथी, ऊँट, गाय, भैंस आदि।

९—कुप्य—चांदी, सोना के सिवाय तांबा, लोहा, कांसा, पीतल आदि धातु तथा इनके बने हुए वर्तन तथा बिछौना, पल्यंक, मोटर, साइकिल, वायुयान आदि घर की सामग्री।

यह नवजाति का परिग्रह है। इसका मैंने जो परिमाण किया है, उसके उपरान्त परिग्रह रखने का जीवन पर्यन्त में एक करण-तीन योग से प्रत्याख्यान करता हूं।

विवेचन—

परिग्रह "मूर्च्छा परिग्रहः" जो मूर्च्छा है, वह परिग्रह है। मूर्च्छा का अर्थ ममत्व या आसक्ति है। धन-धान्य आदि पदार्थ मूर्च्छा के हेतु हैं। इसलिय वह परिग्रह है। जड़ या चेतन, छोटी या बड़ी कोई भी वस्तु हो—उसमें आसक्ति रखना, उसमें आत्मा को बांध देना परिग्रह है। इसका फलितार्थ यह है कि रागासक्त वृत्ति से वस्तुओं का ग्रहण करना परिग्रह है। या यों समझ लीजिये कि

जो वस्तु प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में हिंसा का साधन है, उस पर ममकार होना परिग्रह है। शरीर भी, जो हिंसा का साधन है, वह परिग्रह है और जो अहिंसा-साधन में लगा हुआ है, वह परिग्रह नहीं है। व्यवहार नय से बाह्य वस्तुओं को ही परिग्रह कहा जाता है किन्तु निश्चय नय से परिग्रह हिंसा के साधनभूत पदार्थों में होने वाला अनुराग है।

परिग्रह के दो भेद

परिग्रह दो प्रकार का है—बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य परिग्रह के क्षेत्र, वास्तु आदि नव भेद बतलाये हैं। आभ्यन्तर परिग्रह चवदह प्रकार का है जैसे १ राग २ द्वेष ३ क्रोध ४ मान ५ माया ६ लोभ ७ शोक ८ हास्य ९ रति १० अरति ११ जुगुप्सा १२ भय १३ वेद अर्थात् विकार १४ मिथ्यात्व।

बाह्य परिग्रह, आभ्यन्तर परिग्रह का उद्दीपन करने वाला है।

स्थूल परिग्रह विरति

पांचवें अणुव्रत में श्रावक बाह्य परिग्रह का नियन्त्रण करता है। संग्रह की लालसा को सीमित करता है—सर्वथा सब परिग्रह को नहीं त्यागता, अतः यह स्थूल परिग्रहविरमणव्रत है। बाह्य पदार्थसम्बन्धी आशा को रोके बिना आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करना असम्भव है। बाह्य वस्तुओं की लालसा के त्याग से आभ्यन्तर परिग्रह मन्द होता है। उसकी मंदता से जीव अपरिग्रही बनकर साधन के पथ पर आरूढ हो सकता है। इसलिये परिग्रह का परिमाण करना श्रावक के लिये अत्यन्त उपयोगी है। इस व्रत का दूसरा नाम इच्छापरिमाण है।

इच्छा परिमाण

इच्छापरिमाण अर्थात् इच्छा निरोध के तीन प्रकार हैं—व्रत ग्रहण करने के समय अपने पास जितना अर्थ संग्रह है, उससे न्यून कर परिग्रह का परिमाण करना या उसके उपरांत परिग्रह

सञ्चय करने का त्याग करना अथवा उससे अधिक खुलावट रख कर परिग्रह की मर्यादा करना।

*प्रश्न*—जिसके पास एक लाख रुपये का धन है, वह दो लाख से अधिक परिग्रह रखने का त्याग करता है। यह तो इस व्रत के प्रतिकूल होना चाहिये। इस व्रत का उद्देश्य इच्छा निरोध है, न कि इच्छा विस्तार। क्या ऐसा करना व्रत की परिधि में है?

*उत्तर*—हाँ, है। यथाशक्ति व्रत ग्रहण करनेवाला वह यदि दो लाख से कम परिग्रह में अपनी आशा को सीमित नहीं कर सकता, इसलिए वह एक लाख की असत् (पास में न होने वाली) सम्पत्ति को सीमा के अन्तर्गत रख लेता है। पर इससे व्रत में कोई बाधा नहीं आती। ऐसा करने से लाभ क्या, यह एक असत् कल्पना है, यों भी नहीं सोचना चाहिए; क्योंकि उस सीमा ( दो लाख ) के उपरान्त धनोपार्जन का अवसर आ जाय तो भी वह धन सञ्चय नहीं कर सकता। क्या यह लोभ का संवर नहीं? यदि वह धन सञ्चय न करने पावे, तो भी अनन्त इच्छा को दो लाख तक सीमित कर देता है, क्या यह इच्छा निरोध नहीं? अवश्य है। अतः इसकी उपयोगिता में कोई भी सन्देह नहीं हो सकता।

अतिचार

इस व्रत के पाँच अतिचार श्रावक को वर्जने चाहिये।

१ *क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिक्रम*—क्षेत्र और वास्तु (घर) की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करना चाहिये। अथवा व्रत की अपेक्षा रखते हुए खेत और घर की मर्यादा से अधिक अपने खेत के,

पार्श्ववर्ती खेत या घरके पार्श्ववर्ती घर को मोल लेकर संख्या वृद्धि के भय से उसकी बाड़ या भीत को हटा कर मर्यादित खेत या घर में मिला लेना अतिचार है।

२ *हिरण्य-सुवर्ण-प्रमाणातिक्रम*—चांदी-सोने के प्रमाण का अतिक्रमण नहीं करना चाहिये। सोना-चांदी परिमाण से अधिक हो जाये तो व्रतभंग के डर से उन्हें नियत समय के लिये, अवधि पूर्ण होने पर; वापिस लेने की भावना से दूसरे के पास रखना उक्त अतिचार है।

३ *धन-धान्यप्रमाणातिक्रम*—धन-धान्य की मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए। धन-धान्य की प्राप्ति होने पर उसे अस्वीकार कर देना परन्तु व्रत भंग के भय से धान्यादि बिक जाने पर ले लूंगा, इस भावना से दूसरेके पास रहने देना उक्त अतिचार है।

४ *द्विपदचतुष्पदप्रमाणातिक्रम*—दो पैर वाले दास-दासी, तोता, मैना आदि और चार पैर वाले गाय, भैंस आदि की मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए। अनुपयोग एवं अतिक्रम आदि की अपेक्षा से यह अतिचार है।

५ *कुप्यप्रमाणातिक्रम*—सोने-चांदी के सिवाय अन्य धातु या उनके पात्र अथवा आसन, शयन, रथ आदि गृह-सामग्री की मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए। नियमित कुप्य से अधिक संख्या में कुप्य मिलने पर व्रतभंग के भय से नियमित संख्या को कायम रखने के लिये दो-दो मिलाकर वस्तुओं को बड़ी कर देना उक्त अतिचार है। ये पांचों ही

अनाभोगादि ( अनुपयोगादि) एवं अतिक्रमणादि की अपेक्षा से अंतिचार हैं। जान-बूझ कर मर्यादा का उल्लंघन करना अनाचार है।

आलोचना—इनके योग से कोई पाप लगा हो तो वह मेरे लिए निष्फल हो।

परिशिष्ट "इच्छाहु आगाससमा अणतया" * इच्छा आकाश के समान अनन्त है। अनन्त, अपरिमित आशा को परिमित करना इस व्रत का उद्देश्य है। मनुष्य के हृदय में क्रान्ति है, विप्लव है, सक्रियता है; सुख के लिए, ऐश्वर्य के लिए। पर आज तक किसी ने भी इच्छा की उच्छृङ्खलता में सुख नहीं देखा। आशाके दासत्व में शांति को नहीं छुआ। अतृप्तिके साम्राज्य में अपने को अभय नहीं पाया। कितने ही प्राणी आशाके पाश से बंध कर आत्म-स्वातंत्र्य को खो चुके। आशा पिशाचिनी है, सर्व स्वाहा है, सर्व भक्षी दावानल है। वह सुख नहीं, उसके तन पर सुखाभास का चोला है। भोलेभाले आदमी उसे ही असली सुख मान बैठते हैं। फिर दुख का अनुभव करते है। यही तो अविवेक है। असली सुख संतोष है। आत्म-शोधक महात्माओं ने इसकी शोध की है। दुनिया की भलाई के लिए उन्होंने इसका उपदेश दिया है। निःसंदेह यह सुख है, शांति है, परम समाधि है। सुखी बनने का एक मात्र उपाय है।

"संतोषवता निर्धनेनापि इन्द्रस्य सुखमनुभूयते"

संतोषी पुरुष धनहीन होता हुआ भी इन्द्र के सुख का अनुभव करता है। असंतोषी को समूचे जग का साम्राज्य मिल

* उत्तराध्ययन, अध्ययन ९ वां

मिल जाने पर भी उसे सुख-शांति की साँस नहीं आती।

"असंतोषवन सौख्य न शक्रस्य न चक्रिण"

असंतुष्टचेता देवताओं का स्वामी इन्द्र और षट् खण्ड भूमिका शासक चक्रवर्ती भी सुखी नहीं हो सकता। सर्वदर्शी भगवान् महावीर की वाणी मे आशा दुष्पूर है —

"कसिण पि जो इम लोय, पडिपुन्न दलेज्ज एगस्स।
तेणावि से न सतुस्सेज्जा, इइ दुप्पूरए इमे आया॥"

मनुष्य की लालसा कितनी प्रबल है। एक मनुष्य को अखण्ड विश्व का स्वामी बना दिया जाय तो भी वह तृप्ति का अनुभव नहीं करता। इच्छित पदार्थ की प्राप्त होने पर भी उसकी पूर्ति नहीं होती। "लाहा लोहो पवड्ढइ" लाभ से लोभ बढता है। एक भीखमंगा परिस्थिति के चक्र से राजा होजाय तो वह सम्राट् होने की चेष्टा करेगा। सम्राट् होजाय तो सारी पृथ्वी को अपने पंजे में लेने की धुन में लगेगा। हाय! यही तो दुःख का बीज-मंत्र है। एक तृष्णा नहीं होती तो क्यों मनुष्य व्यर्थ संग्रह करता? क्यों उसकी रक्षा को सशंक रहता? क्यों विरोधके वृक्ष फलते फूलते? क्यों रक्त की नदियां बहतीं? क्यों मनुष्य मनुष्य के खून का प्यासा होता? क्यों ईर्ष्या की आग भभकती? सब अपने २ अधिकार मे संतुष्ट रहते। शांति से जीवन बिताते। अपेक्षाकृत अधिक सुखी होते। केवल आवश्यकता की पूर्ति करते। धन-धान्य और भूमि यह आशा की पूर्ति के साधन नहीं, जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं के साधन हैं। भूख को शान्त करने के लिये अन्न है, अन्न को पैदा करने के लिये भूमि है। आवश्यक अन्न और भूमि को पाने के लिये धन है। यह

धन-धान्य और भूमि का आवश्यक उपयोग है। ऐसा किये विना जीवन निर्वाह नहीं हो सकता किन्तु अनावश्यक धन-धान्य को इकट्ठा करना, अनावश्यक भूभागको रोके रहना, आवश्यक सामग्री का दुरुपयोग है। यह केवल तृष्णा की विडम्बना है। इस प्रकार की चेष्टा से, अनावश्यक संग्रह से, आत्म-गुणों का लोप होता है। धार्मिक आचरण विकास नहीं पा सकते। हिंसा को प्रोत्साहन मिलता है। मैत्री का स्रोत सूख जाता है। हड़पने की भावना प्रबल हो उठती है। व्यर्थ द्रव्य-संग्रह न केवल धार्मिक नियम के ही प्रतिकूल है अपितु देश और समाज की सद्‌व्यवस्था के भी। इसमें न केवल धार्मिक हानि होती है किन्तु देश और समाज की भी। यदि आवश्यकता के उपरात अधिक अर्थ-संग्रह की भावना मनुष्यों में नहीं होती तो भूख से मरना, तन ढकने को कपड़ा नहीं मिलना, रहने के लिये घर नहीं मिलना, इत्यादि साधारण से साधारण संकट सम्भवतः जीवन की घड़ियों में नहीं आते। आर्थिक कठिनाइयों की इतनी अनुभूति नहीं होती। त्राहि-त्राहि की करुण पुकारें इस तरह कानों से नहीं टकरातीं। आज का वातावरण विचित्र है। अर्थसंग्रह को प्रोत्साहित किया जा रहा है। आर्थिक स्थिति जोवन का मापदण्ड है। देश और समाज के महत्व की भीत्ति ही अर्थ-संचय है। यही कारण है कि आज की परिस्थिति वास्तविकता से दूर है, अशान्त है, भयानक है और संघर्ष मूलक है। एक दूसरे का राज्य हड़पनेकी लगन में है। धन की स्पर्धा है। धन की उत्कण्ठा है। अति धन-संग्रह ही सभ्यता का मूल सूत्र है। पर यह निश्चय कर लेना चाहिए कि इससे जगत् का भला नहीं हो सकता। अशांति का

उच्छेद नहीं हो सकता। दु.ख का अन्त नहीं हो सकता। लाभ लोभ का जनयिता है। लोभ महारम्भ का जनयिता है। महारम्भ अनर्थ का जनक है। अनर्थ अशांति और उद्वेग का उत्पादक है। अतएव यह निश्चित है कि धन-संग्रह की प्रबल भावना और प्रबल प्रयत्न को रोके बिना शांति नहीं हो सकती। सुख और शांति का एक मात्र उपाय संतोष है। इसीलिये भगवान महावीर का उपदेश है—"लोभ सतोसओ जिणे" लोभ की विजय संतोष से करो। संतोषी पुरुष अपने मे ही तृप्त रहता है। वह पिशाची तृष्णा के सिकंजे मे नहीं फंसता। अनर्थ से उसका हृदय कांपता है। पाशविक क्रूरता संतोषी को विचलित नहीं कर सकती। आशा का निरोध करने वाला पुरुष उस सुख को विना प्रयत्न साध लेता है, जिसको लालची लाखों यत्नों से नहीं साध सकता। परिग्रह का मूल्य, महत्व और स्पर्धा तबतक ही है जबतक मनुष्य लोभ के इशारे पर नाचता है। किन्तु लोभ की सीमा होते ही वह सब कंकड़ के समान प्रतीत होने लगता है। जीवन सीमित है। धन असीमित है। लालसा अनन्त है, अतः अमर्यादित लालसाओं की पूर्ति असंभव है। इसीलिये प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक समाज, जाति और राष्ट्र को हित और सुख शांति की रक्षाके लिये अर्थ-संग्रह की सीमा करना आवश्यक कार्य समझना चाहिए। श्रावक को तो इस व्रत का महान् आदर करना चाहिए।

## प्रथम गुणव्रत

### छठा दिग्व्रत

### मूल पाठ

छट्ठं दिसिव्वयं उड्ढदिसाए जहापरिमाणं अहोदिसाए जहापरिमाणं तिरियदिसाए जहापरिमाणं एवंमए जहापरिमाणं कयं तओ मेच्छाए काएणं गंतूणं पंचासवासेवणस्स पच्चक्खाणं जावज्जीवाए एगविहं तिविहेणं न करेमि मणसा वयसा कायसा एअस्स दिसिव्वयस्स छट्ठस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा-१ उड्ढदिसिप्पमणाइक्कमे २ अहोदिसिप्पमाणाइक्कमे ३ तिरियदिसिप्पमाणाइक्कमे ४ खेत्तवुड्ढी ५ सइअंतरद्धा जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।

छाया

षष्ठं दिग्व्रतं ऊर्ध्वदिशो यथापरिमाणं अधो-दिशो यथापरि-माणं तिर्यग्-दिशो यथापरिमाणं एवं मया यथापरिमाणं कृतम् अतः स्वेच्छया कायेन गत्वा पञ्चाश्रवाऽसेवनस्य प्रत्याख्यानं याव-ज्जीवं एकविधं त्रिविधेन न करोमि मनसा वचसा कायेन एतस्य दिग्-व्रतस्य षष्ठस्य श्रमणोपासकेन पञ्चातिचाराः ज्ञातव्याः न समाचरितव्याः तद्यथा १ ऊर्ध्व-दिक् प्रमाणातिक्रमः २ अधो-दिक्-प्रमाणातिक्रमः ३ तिर्यग्दिक्-प्रमाणातिक्रमः ४ क्षेत्रवृद्धिः ५ स्मृत्यन्तर्द्धा यो मया दैवसिकः अतिचारः कृतः तस्य मिथ्यामे दुष्कृतम्।

शब्दार्थ

छट्ठं—छट्ठा
दिसिव्वयं—दिग्व्रत
उड्ढदिसाए—ऊर्ध्व दिशा का
जहापरिमाणं—यथापरिमाण
अहो-दिसाए—नीचो दिशा का
जहापरिमाणं—यथापरिमाण
तिरिय-दिशाए—तिर्यग्-दिशा का
जहापरिमाणं—यथापरिमाण
एवंमए—इस प्रकार मैंने
जहापरिमाणं—जो परिमाण
कयं—किया है
तओ—उसके उपरान्त
सेच्छाए—अपनी इच्छासे
काएणं—शरीर के द्वारा
गंतूणं—जाकर
पंचासवासेवणस्स—पाच आश्रव सेवन करने का
पच्चक्खाणं—प्रत्याख्यान (करता हूं)
जावज्जीवाए—जीवन पर्यंत
एगविहं—एककरण
तिविहेणं—तीनयोग से (पाच आश्रव का सेवन)
न—न
करेमि—करूँ
मणसा—मन से
वयसा—वचन से

कायसा—शरीर से
एअस्स—इस
दिसि-व्वयस्स—दिग्-व्रत का
छट्ठस्स—छट्ठे व्रत के
समणोवासएणं—श्रावक को
पंच अइयारा—पाच अतिचार
जाणियव्वा—जानने चाहिए
न—नही
समायरियव्वा—आचरण करना
चाहिए
तंजहा—वे इस प्रकार है।
उड्ढदिसिप्पमाणाइक्कमे—ऊर्ध्व-दिशाके परिमाणको उल्लघन करना
अहोदिसिप्पमाणाइक्कमे—नीची दिशा के परिमाण को उल्लघन करना
तिरिय दिसिप्पमाणाइक्कमे—तिर्छी दिशा के परिमाण को उल्लघन करना
खेत्तवुड्ढी—एक दिशाका परिमाण घटाकर दूसरी दिशा का परिमाण बढाना
सइअंतरद्धा—परिमाण की विस्मृति से सदेह होने पर भी उससे आगे जाना
जो—जो
मे—मैंने
देवसिओ—दिन सम्बन्धी
अइयारो—अतिचार
कओ—किया हो तो
तस्स—उसका
मिच्छामि—निष्फल हो
दुक्कडं—पाप

भावार्थ

हे गुरुदेव ! मैं ऊँची, नीची, तिर्छी दिशा में जाने का परिमाण करता हूं। मैं खुद अपनी इच्छा से मर्यादित दिशा से आगे जाकर हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य, परिग्रह—इन पांच आश्रवों का सेवन करने का त्याग करता हूं। मैं जीवन पर्यंत मनसा-वाचा-कर्मणा इस व्रत का पालन करूंगा।

विवेचन

इस व्रत के पांच अतिचार श्रावक को वर्जने चाहिए। अतिचार

१ *उर्ध्वदिक्प्रमाणातिक्रम*—ऊंची दिशा में जाने का जो परिमाण किया हो, उसका उल्लंघन नहीं करना चाहिए।

२ *अधोदिक्प्रमाणातिक्रम*—नीची दिशा में जाने का जो प्रमाण किया हो, उसका उल्लंघन नहीं करना चाहिए।

३ *तिर्यक्दिक्प्रमाणातिक्रम*—तिर्छी दिशा में जाने का जो प्रमाण किया हो, उसका उल्लंघन नहीं करना चाहिए।

असावधानी से ऊर्ध्व, अधः और तिर्यग् दिशा के प्रमाण का उल्लंघन करना अतिचार है और जान बूझकर उल्लंघन करना अनाचार है।

४ *क्षेत्रवृद्धि*—एक दिशा का परिमाण घटा का दूसरी दिशा का परिमाण नहीं बढ़ाना चाहिए। दोनों दिशाओं के परिमाण का परिवर्तन करने वाला यह जान ले कि मैंने क्षेत्र की सीमा का उल्लंघन तो किया नहीं, केवल एक के बदले में दूसरी दिशा का परिमाण बढ़ाया है, इस प्रकार व्रत की उपेक्षा होने से यह अतिचार है

५ *स्मृत्यन्तर्धान*—(स्मृतिभ्रंश) ग्रहण किये हुए परिमाण का स्मरण न रहने पर संदेह सहित आगे नहीं चलना चाहिए। जैसे किसी ने पूर्व दिशा में १०० योजन से उपरांत जाने की मर्यादा की है। पूर्व दिशा मे जाने के समय उसे मर्यादा का स्मरण नहीं रहा। वह सोचने लगा कि मैंने पूर्व दिशा में ५० योजन की मर्यादा की है या १०० योजन की। इस

प्रकार स्मृति न रहने पर संदेह सहित ५० योजन से भी आगे जाना अतिचार है।

आलोचना—इन अतिचारों के आचरण से मुझे दोप लगा हो तो वह मेरे लिये निष्फल हो।

गुणव्रत

पाँच अणुव्रत के पश्चात् तीन गुण व्रत हैं। "गुणाय चोपकाराय अणुव्रताना व्रत गुणव्रतम्" अणुव्रतों के गुणों को बढ़ाने वाला, उनका उपकार-पुष्टि करने वाला व्रत गुणव्रत कहलाता है। ऐसे गुण व्रत तीन है:—

(१) *दिग्विरति*

(२) *भोगोपभोगविरति*

(३) *अनर्थदण्डविरति*

दिग्विरति नामक व्रत, व्रत-संख्या के क्रम से छठा व्रत है और गुणव्रत की अपेक्षा पहला गुणव्रत है।

प्रयोजन

प्रत्याख्यान—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से सम्बन्ध रखता है। हम जिसका त्याग करते हैं, वही उस त्याग का द्रव्य है। उसके स्थान का निश्चय करना त्याग का क्षेत्र है। 'कबतक' काल की अवधि का विवेक करना त्याग का काल है। राग-द्वेष रहित और उपयोग सहित उसका पालन त्याग का भाव है। श्रावक का त्याग अपूर्ण होता है। आगार ( छूट ) सहित होता है अतः श्रावक के लिए द्रव्य की तरह क्षेत्र को भी मर्यादित करना जरूरी है।

स्वामीजी ने बड़े मार्मिक शब्दों में इस व्रत की उपयोगिता बतलाई है जैसे:—

"पाच अणूव्रत धारता, मोटी वाधी पाल ।*
छोटारी अव्रत रही, ते पाप आवे दग चाल ।।
तिण अव्रत ने मेटवा, पहिलो गुणव्रत देख ।
दिशि मर्यादा माड ने, टाले पाप विशेष ।।"

श्रावक अणुव्रतों को स्वीकार करने के समय सब क्षेत्रों में संकल्पजा आदि हिंसा का प्रत्याख्यान करता है और आरम्भजा हिंसा आदि का आगार रखता है। वह आगार सब स्थानों के लिये खुला रहता है। उसकी कोई सीमा नहीं होती। उस छूट को सीमा-बद्ध करने के लिए इस व्रत का विधान किया गया है। इस व्रत के अनुसार श्रावक अमुक २ दिशा से इतनी दूर से आगे जाकर आरम्भजन्य हिंसा आदि का प्रत्याख्यान कर लेता है। फिर वह उस सीमा का उल्लंघन कर आरम्भजा हिंसा आदि का आचरण नहीं कर सकता। यह प्रणाली पाँचों व्रतों के लिये समान है। इसमें क्षेत्र संयम का प्रधान्य है।

परिशिष्ट

इस व्रत का उद्देश्य हिंसा आदि पांचों दोषों की निवृत्ति करना है। इन्द्रिय वासनाओं की तृप्ति के लिए, प्राणिवध के लिए, दूसरे के अधिकारों को कुचलने के लिए की जाने वाली भ्रमणशील प्रवृत्ति को रोकने के लिए यह अत्यन्त उपयोगी है। सारे संसार को आप्लावित करने वाले परिग्रहरूपी पानी का वेग रोकने के लिए यह बांध है। दिग्गमन की मर्यादा करने वाला न केवल स्वयं जाने का ही त्याग करता है, अपितु उस सीमा से बाहर रहने वालों के साथ व्यापार का सम्बन्ध, लेन-देन का

---

* भिक्षु स्वामी

सम्बन्ध, बाहर से भोग्य वस्तुएं मंगाने एवं प्रमाणित क्षेत्र में उन्हें भेजने आदि का भी परित्याग करता है। धार्मिक सूक्ष्मता में इस व्रत का बड़ा भारी महत्व है। इससे पांच अणुव्रत बहुत पुष्ट होते हैं। संयम का परिमाण बढ़ता है। जिस शान्ति की स्थापना के लिए विश्व का कण-कण टटोला जा रहा है, उसका मूल बीज इसमें गर्भित है। सब के सब अपने आवश्यक निर्वाह के उपयुक्त सीमा का निश्चय करें और यदि दूर-दूर की परिस्थितियों के अवलोकन का लोभ संवृत्त न हो सकने पर सुदूर प्रदेशों में जायें तो भी किसी पर आक्रमण करने के लिए, किसी को सताने के लिए, धन का अपहरण करने के लिए, लूटने के लिए, कूटनीति का चक्र फैलाने के लिए, उन पर शासन करने के लिए, व्यापारिक अधिकारों को ध्वंस करने के लिए, घरेलू लड़ाइयों के बीज बोने के लिए, दूसरों के स्वत्व को छीन कर निज को अधिक ऐश्वर्यशाली बनाने के लिए इत्यादि अपरिमित कलुषित भावनाओं को कार्यरूप देने के लिए नहीं जाएं तो अवश्य ही शांति के दर्शन सुलभ हो जायंगे। पारस्परिक अविश्वास का अन्त हो जाएगा। संभवतः एक देश का दूसरे देश के साथ प्रवेश-प्रतिरोध, प्रवेश-स्वीकृति के सम्बन्ध भी आज जैसे संदिग्ध और जटिल नहीं रहेंगे। सबके प्रति विश्वास की परम्परा उल्लास पाएगी। मानव समूह को एक कल्पित एवं स्वप्न-प्रतीत सुख की साक्षात् अनुभूति होगी। यह एक सामूहिक लाभ है। समाज पर विशेष कर इसके अनुशीलन का क्या असर होता है, उस पर भी एक दृष्टि डालनी चाहिए। आज का युग आडम्बर का युग है। बाहरी दिखावे में लोक मंत्र-मुग्ध है। लालसाएं बढ़ी-चढ़ी हैं। ऐश-

आराम एवं फैशन के लिए कुछ उठा नहीं रखते हैं। इससे आज अनेकों समाज दुर्दशा के केन्द्र बन चुके है। अनेकों काल-कवलित से हो रहे हैं और अनेकों कंकाल के रूप मे खड़े हैं। इस व्रत की ओर उन्हें आंख उठाने का सौभाग्य प्राप्त हो जाये तो अब भी उनका भाग्य सितारा जाज्वल्यमान मणि की भाति चमक सकता है। कठिनाइयों की कड़िया टूट सकती है। पुनर्जीवन की अमिट रेखा उज्ज्वल हो सकती है। आत्म-संयमके साथ सामाजिक पुरुष और स्त्रियां १०० या २०० मील अथवा प्रमाणित क्षेत्र से बाहर बनी हुई आडम्बर की वस्तुओं का उपयोग करना त्याग दें, उनसे जी न ललचायें, बराबरी की भावना का सत्कार न करें, विलासिताके साधनों की स्पर्धा न करे तो निश्चय ही समाज के संकट भरे दिनों की इतिश्री होकर रहेगी। सुख, शाति, संतोष और मैत्री का पौधा पनपेगा। इसलिए इस व्रत का पालन करना प्रत्येक शुभेच्छु का कर्तव्य है। आत्म-शोधन के साथ-साथ राष्ट्र और समाज का भी इससे बड़ा हित होता है।

# दूसरा गुणव्रत

सातवा व्रत

मूल पाठ

सत्तमेवए उवभोगपरिभोगविहिं पच्च-
क्खायमाणे १ उल्लणियाविहि २ दंतणविहि
३ फलविहि ४ अब्भंगणविहि ५ उव्वट्टणविहि
६ सज्जणविहि ७ वत्थविहि ८ विलेवणविहि
९ पुप्फविहि १० आभरणविहि ११ धूवणविहि
१२ पेज्जविहि १३ भक्खविहि १४ ओदणविहि
१५ सूवविहि १६ विगयविहि १७ सागविहि
१८ महुरविहि १९ जेमणविहि २० पाणीयविहि
२१ मुहवासविहि २२ वाहणविहि २३ सयणविहि
२४ उवाहणविहि २५ सचित्तविहि २६ दव्वविहि

इच्चाइणं जहापरिमाणं कयं तओ अइरित्तस्स उव-
भोगपरिभोग पच्चक्खाणं जावज्जीवाए एगविहं
तिविहेणं न करेमि मणसा वयसा कायसा सत्तमे
उवभोगपरिभोगव्वए दुविहे पन्नत्ते तंजहा भोयणओ
कम्मओय तत्थणं भोयणओ समणोवासएणं पंच
अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा
१ सचित्ताहारे २ सचित्त-पडिबद्धाहारे ३ अप्पओ-
लिओसहिभक्खणया ४ दुप्पओलिओसहिभक्खणया
५ तुच्छोसहिभक्खणया जो मे देवससिओ
अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।

छाया

सप्तमे व्रते उपभोगपरिभोगविधि प्रत्याख्यायमानः १ आर्द्र-नयनिकाविधिः २ दन्तनविधिः ३ फलविधिः ४ अभ्यङ्गनविधिः ५ उद्वर्तनविधिः ६ मज्जनविधिः ७ वस्त्रविधिः ८ विलेपनविधिः ९ पुष्पविधिः १० आभरणविधिः ११ धूपनविधिः १२ पेयविधिः १३ भक्ष्यविधिः १४ ओदनविधिः १५ सूपविधिः १६ विकृत विधिः १७ शाकविधिः १८ मधुरविधिः १९ जेमनविधिः २० पानीयविधिः २१ मुखवासविधिः २२ वाहनविधिः २३ शयन विधिः २४ उपानद्विधिः २५ सचित्तविधिः २६ द्रव्यविधिः इत्यादीनां यथापरिमाणं कृतम् ततः अतिरिक्तस्य उपभोगपरिभोगस्य

प्रत्याख्यानं यावज्जीवं एकविधं त्रिविधेन न करोमि मनसा वयसा कायेन। सप्तमम् उपभोगपरिभोग व्रतं द्विविधं प्रज्ञप्तं तद्यथा भोजनतः कर्मतश्च। तत्र भोजनतः श्रमणोपासकेन पञ्च अतिचाराः ज्ञातव्याः न समाचरितव्याः तद्यथा १ सचित्ताहारः २ सचित्त प्रतिबद्धाहारः ३ अपक्वौषधि भक्षणता ४ दुष्पक्वौषधि भक्षणता ५ तुच्छौषधि भक्षणता यो मया दैवसिकः अतिचारः कृतः तस्य मिथ्या मे दुष्कृतम्।

शब्दार्थ

सत्तमे—सातवें
वए—व्रत में
उपभोगपरिभोगविहिं—उपभोग परिभोग विधि का
पच्चक्खायमाणे—प्रत्याख्यान करता हुआ
उल्लणियाविहि—रूमालविधि
दंतणविहि—दतवनविधि
फलविहि—फलविधि
अब्भंगणविहि—तैलमर्दनविधि
उव्वट्टणविहि—पीठीविधि
मज्जणविहि—स्नानविधि
वत्थविहि—वस्त्रविधि
विलेवणविहि—विलेपनविधि
पुप्फविहि—पुष्पविधि
आभरणविहि—आभूषणविधि
धूवणविहि—धूपविधि
पेज्जविहि—पेयविधि
भक्खविहि—भक्ष्यविधि
ओदणविहि—ओदनविधि (रधी हुई चीजें)
सूवविहि—दालविधि
विगयविहि—विगयविधि
शाकविहि—शाकविधि
महुरविहि—मधुरफलविधि
जेमणविहि—भोजनविधि
पाणीयविहि—पानीविधि
मुहवासविहि—मुखवासविधि
वाहणविहि—वाहनविधि
शयणविहि—शयनविधि
उवाहणविहि—उपानद् (जूता) विधि

सचित्तविहि—सचित्तविधि
दव्वविहि—द्रव्यविधि
इच्चाइणं—इत्यादि
अहापरिमाणं—जो परिमाण
कयं—किया
तओ—उससे
अइरित्तस्स—अधिक
उवभोग परिभोग—उपभोग-परिभोग का
पच्चक्खाणं—प्रत्याख्यान
जावज्जीवाय—जीवन पर्यन्त
एगविहं—एक करण
तिविहेणं—तीन योग से
न करेमि—नही करूँ
मणसा—मन से
वयसा—वचन से
कायसा—शरीर से
सत्तमे—सातवा
उवभोग—उपभोग
परिभोगव्वए—परिभोग व्रत
दुविहे—दो प्रकार का
पन्नरो—कहा है
तंजहा—वह इस प्रकार है
भोयणओ—भोजन से
कम्मओय—कर्म से
तत्थणं—उसमें
भोयणओ—भोजन सम्बन्धी
समणोवासएणं—श्रावक को
पंच—पाच
अइयारा—अतिचार
जाणियव्वा—जानना चाहिए
न—नही
समायरियव्वा—आचरण करना चाहिए
तंजहा—वे इस प्रकार है
सचित्ताहारे—प्रत्याख्यानके उपरान्त सचित्त वस्तुका आहार करना
सचित्तपडिबद्धाहारे—सचित्त संयुक्त आहार करना
अप्पओलिओसहिभक्खणया—अपक्व औषधि ( धान्य ) का भक्षण करना
दुप्पओलिओसहिभक्खणया—अर्द्ध पक्व औषधि आदि का भक्षण करना
तुच्छोसहिभक्खणया—असार फलादि का भक्षण करना

जो—जो
मे—मैंने
देवसिओ—दिन सम्बन्धी
अइयारो—अतिचार
कओ—किया हो तो
तस्स—उसका
मिच्छामि—निष्फल हो
दुक्कडं—पाप

## पणरस कम्मादाणाइं

पन्द्रह कर्मादान

मूल पाठ

कम्मओणं समणोवासएणं पणरस कम्मादाणाइं जाणियव्वाइं न समायरियव्वाइं तंजहा-
१ इंगालकम्मे २ वणकम्मे ३ साडीकम्मे ४ भाडीकम्मे ५ फोडीकम्मे ६ दंतवाणिज्जे ७ केसवाणिज्जे ८ रसवाणिज्जे ९ लक्खवाणिज्जे १० विसवाणिज्जे ११ जंतपीलणकम्मे १२ निल्लंछणकम्मे १३ दवग्गिदावणया १४ सरदहतडागपरिसोसणया १५ असईजणपोसणया जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

छाया

कर्मतः श्रमणोपासकेन पञ्चदश कर्मादानानि ज्ञातव्यानि न समाचरितव्यानि तद्यथा १ अङ्गारकर्म २ वनकर्म ३ शाकटकर्म

४ भाटककर्म ५ स्फोटकर्म ६ दन्तवाणिज्यं ७ केशवाणिज्यं ८ रस-वाणिज्यं ६ लाक्षावाणिज्यं १० विषवाणिज्यं ११ यन्त्रपीलनकर्म १२ निर्लाञ्छनकर्म १३ दावाग्निदापनता १४ सरोद्रह्-तटाकपरि-शोषणता १५ असतीजनपोषणता यो मया दैवसिकः अतिचारः कृतः तस्य मिथ्या मे दुष्कृतम्।

पन्द्रह कर्मादान

कम्मओणं—कर्म से
समणोवासएणं—श्रावक को
पंणरस—पन्द्रह
कम्मादाणाइं—कर्मादान
जाणियव्वाइं—जानने चाहिए
न—नही
समायरियव्वाइं—आचरण करना चाहिए
तंजहा—वे इस प्रकार है
इङ्गालकम्मे—अंगारकर्म
वणकम्मे—वनकर्म
साड़ीकम्मे—शाकटकर्म
भाड़ीकम्मे—भाटककर्म
फोड़ीकम्मे—स्फोटकर्म
दंतवाणिज्जे—दन्तवाणिज्य
केसवाणिज्जे—केशवाणिज्य
रसवाणिज्जे—रसवाणिज्य
लक्खवाणिज्जे—लाक्षवाणिज्य
विसवाणिज्जे—विषवाणिज्य
जंतपीलणकम्मे—यन्त्रपीलनकर्म
निल्लंछणकम्मे—निर्लाञ्छनकर्म
दवग्गिदावणया—दावानलकर्म
सरदहतड़ागपरिसोसणया—सरोद्रह्-तड़ाग शोषणता
असईजणपोसणया—असतीजन पोषणता
जो—जो
मे—मैने
देवसिओ—दिन सम्बन्धी
अइयारो—अतिचार
कओ—किया हो तो
तस्स—उसका
मिच्छामि—निष्फल हो
दुक्कडं—पाप

भावार्थ

उपभोग-परिभोग-परिमाण

उपभोग—भोजन आदि एक बार भोग में आनेवाले पदार्थ।

परिभोग—वस्त्र, शय्या आदि बार-बार भोग में आनेवाले पदार्थ।

उपभोग-परिभोग-पदार्थों की मर्यादा के उपरांत सेवन करने का प्रत्याख्यान करना उपभोग-परिभोग-परिमाण-व्रत है। यह दो तरह से होता है, भोजन से और कर्म से। उपभोगपरिभोग-पदार्थों का परिमाण से अधिक सेवन करने का प्रत्याख्यान करना, भोजन से उपभोगपरिभोगपरिमाण व्रत है और उनकी प्राप्ति के साधनभूत धन का उपार्जन करने के लिए मर्यादा के उपरान्त व्यापार करने का त्याग करना कर्म से उपभोगपरिभोग-परिमाण व्रत है।

हे गुरुदेव! सातवें व्रत में 'उल्लणियाविहि' आदि छब्बीस बोल का जो मैंने परिमाण किया है, उसके उपरांत सब द्रव्यों का जीवनपर्यंत एक करण तीन योग से त्याग करता हूं।

विवेचन

अतिचार

इस व्रत के भोजन सम्बन्धी पांच अतिचार श्रावक को वर्जने चाहिए।

१ *सचित्ताहार*—त्याग के उपरांत सचित्त (जीव सहित) नमक, पानी, वनस्पति आदि का आहार नहीं करना चाहिए।

२ *सचित्तप्रतिबद्धाहार*—सचित्त वृक्षादि से सम्बद्ध फल आदि नहीं खाने चाहिए। अचित्त खजूर आदि फल सचित्त गुठली सहित खाना या बीज सहित पक्के फल को, यह

सोच कर कि इसके अचित्त अंश को खा लूंगा और सचित्त अंश को फेंक दूंगा, खाना सचित्त संयुक्त अतिचार है।

३ *अपक्व औषधिभक्षण*—बिना पके गेहूं, चावल आदि धान्य का भक्षण नहीं करना चाहिए।

४ *दुष्पक्व औषधिभक्षण*—अधपके गेहूं, चावल आदि धान्य को पका हुआ जान कर नहीं खाना चाहिए। (अपक्व एवं दुष्पक्व धान्य अचित्त नहीं होता अतः सचित्त-त्यागी को इनका आहार नहीं करना चाहिए।)

५ *तुच्छौषधिभक्षण*—तुच्छ – असार औषधियें, जैसे कच्ची मूगफली वगैरह, जिन्हें खाने मे बड़ी विराधना और अल्प तृप्ति होती है, नहीं खाना चाहिए।

ये अनुपयोग तथा अतिक्रम आदि की अपेक्षा से अतिचार है, जान-बूझ कर ऐसा करना अनाचार है।

आलोचना—इसके सेवन से दोष लगा हो तो मेरे लिये निष्फल हो।

अशुभ कर्मों के प्रबल कारणभूत कर्म या व्यापार का नाम कर्मादान है। कर्मादान संख्या में पन्द्रह है। ये कर्म (कार्य या व्यापार) की अपेक्षा इस व्रत के अतिचार है।

१५ कर्मादान-अतिचार

१—अङ्गारकर्म—कोयले बना कर उसके धन्धे से आजीविका करना। सोना, चांदी, लोहा, तांबा आदि धातुओं को गलाना, ईंट, चूना आदि बनाना इत्यादि। जिन कार्यों में अग्निकाय का महारम्भ हो, वे सब अङ्गार कर्म है।

२—वनकर्म—जङ्गल के वृक्षों को काट कर या ऐसे ही उन्हें

बेचना तथा पेड़-पत्ते, फल-फूल के आरम्भ से आजीविका चलाना।

३—शाकटकर्म—गाड़ी, इक्का, मोटर, रथ आदि का व्यापार करना।

४—भाटककर्म—गाड़ी, घोड़ा, ऊँट आदि वाहन एवं मकान आदि से भाड़ा कमाने का व्यापार करना।

५—स्फोटकर्म—कुदाल आदि से भूमि एवं पत्थर आदि को फोड़ना तथा धान्यादि को दल कर आजीविका करना।

६—दंतवाणिज्य—हाथीदांत, मोती, सींग, चर्म, हाड़ इत्यादि त्रस जीवके अवयवों का व्यापार करना।

७—लाक्षावाणिज्य—लाख, मोम आदि का व्यापार करना, हरताल आदि खनिज पदार्थ, गोंद आदि वृक्षज पदार्थों का व्यापार करना, लाक्षावाणिज्यके अन्तर्गत है।

८—रसवाणिज्य—घी, दूध, दही तथा मदिरा मांस आदि का व्यापार करना।

९—विषवाणिज्य—कच्ची धातु, अफीम, शंखिया आदि विषैली वस्तु तथा अस्त्र-शस्त्र आदि का व्यापार करना।

१०—केशवाणिज्य—केशों के निमित्त, केशवाले प्राणी—गाय, भैंस, घोड़ा, हाथी आदि का एवं ऊन, रेशम आदि का व्यापार करना।

११—यंत्रपीलन—तिल, ईख आदि को घाणी या कोल्हू में पेरना। घट्टी, जल-यंत्र, मिल, कल-कारखानों से व्यापार करना।

१२—निर्लाञ्छनकर्म—बैल आदि को नपुंसक करने का कर्म करना।

१३—दावानलकर्म—खेत या भूमि को साफ करने के लिये जङ्गलों में आग लगाना।

१४—सरोद्रहतड़ागशोषणता—खेती आदि करने के लिये या जीवन को उपयोगी बनाने के लिये झील, नदी, तालाव आदि को सुखाना।

१५—*असतीजनपोषणता—आजीविका के निमित्त दास, दासी, पशु, पक्षी आदि असंयति जीवों का पोषण करना।

आलोचना—अनुपयोग आदि से मर्यादा के उपरांत पन्द्रह कर्मादान सम्बन्धी जो कोई अतिचार लगा हो तो वह मेरे लिये निष्फल हो।

छठे व्रत एहवा पचखाण, माहि घणा द्रव्यादिक जान। उद्देश्य
तेहनी अव्रत टालण काज, सातवो व्रत कह्यो जिनराज ॥

(श्री भिक्षु स्वामी)

छठे व्रत में श्रावक मर्यादित दिशा से आगे जाकर पाँच आश्रव सेवन का और भोग्य वस्तुओं के क्रय-विक्रय या आदान-प्रदान का संयम करता है। सीमा की अन्तर्वर्ती सब वस्तुएं आवश्यक नहीं होती। निरर्थक ही उन पर आशा का चक्र घूमता है। असंयम प्रबल होता है। भोग्य सामग्री को प्रमाणातिरेक पाने की आकांक्षा से मनुष्य में वित्तोपार्जन की चेष्टा बढ़ती है, उससे प्रेरित मानव व्यापार का आश्रय लेता है और अधिक से अधिक लोलुपता से महारम्भवाला काम करता है।

---

* सारिका-शुक-मार्जार-श्व-कुक्कुटकलापिनाम्।
पोषो दास्याश्च वृत्तार्थमसती पोषणं विदु.॥

योगशास्त्र—हेमचन्द्राचार्य (सप्तम व्रत)

इसीलिये मर्यादित क्षेत्र के अन्दर मिलने वाले भोग्य पदार्थ और उनकी प्राप्ति के निमित्त किये जाने वाले व्यापार पर नियंत्रण करने के लिये इस व्रत का निर्माण किया गया है।

परिशिष्ट

निर्वाह और लालसा दो चीजें हैं। खाद्य. पेय, परिधेय आदि पदार्थ निर्वाह के साधन हैं, इनसे जीवन-निर्वाह होता है, लालसाओं की पूर्ति नहीं। अनियंत्रित लालसा सब तरह से मनुष्य को हानि पहुंचाती है। शारीरिक एवं मानसिक वृत्तियां उत्पीड़ित रहती हैं अतएव उनका परिमाण करना सर्वथा हितकर है। एक मनुष्य सब चीजों को व्यवहार में नहीं ला सकता, सबका उपभोग नहीं कर सकता— इस दशा में क्यों वह अधिक आशा का भार अपने सिर पर ढोये और क्यों उनकी प्राप्ति के हेतु महारम्भकारी व्यावसायिक वृत्तियों की धुन में चक्कर लगाये? किन्तु लालसा की अमिट रेखा ने मनुष्यों को यहां तक विह्वल बना रखा है कि वे मद्य और मांस जैसे उन्मादक व्यापार से भी अपने को विलग नहीं रख पाते! क्या इसके बिना जीवन नहीं चल सकता? अथवा वे उस धन राशि से प्राप्त भोग-सामग्री का सदा उपभोग करते रहेंगे? नहीं, तो यह क्यों? यह निर्वाह का दोष नहीं, यह दोष लालसा का है। अतएव प्रस्तुत व्रत भोगोपभोग की अभिलाषाओं को सीमित करने का उपदेश करता है। जैसे— मर्यादित क्षेत्र में उपभोग-परिभोग की विपुल सामग्री है, उसका अनावश्यक संग्रह मत करो, महा आरम्भ वाले व्यापार से वासनाओं को पूर्ण करने का ख्याल मत करो, ऐसा करना अपने सुख के लिये दूसरों को दुखी बनाना है, हिंसावृत्ति को प्रोत्साहन देना है। श्रावक को इस प्रकार की चेष्टा से विरत

रहना चाहिए। आत्म-संयम की अनन्त महिमा को दृष्टि से ओझल नहीं करना चाहिए। आत्म-संयम एक महान् सुख है। उसकी उपासना से अनेक भौतिक सिद्धियां अपने आप मिलती हैं। उनके लिये अलग आयास करने की कोई आवश्यकता नहीं। इस व्रत के कई लाभ तो हमारे प्रत्यक्ष हैं, जैसे—आर्थिक कठिनाइयाँ, मनमानी बुराइयाँ, धन का अपव्यय आदि परिस्थितियों का चक्र इसके अनुशीलन से अपनेआप लुप्त हो जाता है। इसके मूल में समष्टि का लाभ अन्तर्निहित है। तत्वज्ञ थोड़े में ही बहुत कुछ समझ सकेंगे।

## तीसरा अणुव्रत

### आठवा व्रत

### मूल पाठ

अट्ठमं अणट्ठदंड-वेरमणव्वयं सेय अणट्ठदंडे चउव्विहे पन्नत्ते तंजहा १ अवज्झाणाचरिए २ पमायाचरिए ३ हिंसप्पयाणे ४ पावकम्मोवएसे इच्चेवसाइस्स अणट्ठदंडासेवणस्स पच्चक्खाणं जाव-ज्जीवाए दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि मणसा वयसा कायसा एअस्स अट्ठमस्स अणट्ठदंड वेरमणस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा १ कंदप्पे २ कुक्कुइए ३ मोहरिए ४ संजुत्ताहिकरणे उवभोग-परिभोगा-तिरित्ते ५ जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।

छाया

अष्टमं अनर्थ-दण्डविरमणव्रतं सच अनर्थदंडः चतुर्विधः प्रज्ञप्तः तद्यथा १ अपध्यानाचरितं २ प्रमादाचरितं ३ हिंस्रप्रदानम् ४ पापकर्मोपदेशः इत्येवमादेः अनर्थदंडाऽसेवनस्य प्रत्याख्यानं यावज्जीवं द्विविधं त्रिविधेन न करोमि न कारयामि मनसा वचसा कायेन एतस्य अष्टमस्य अनर्थ-दंड-विरमणस्य श्रमणोपासकेन पञ्च अतिचाराः ज्ञातव्याः न समाचरितव्याः तद्यथा १ कन्दर्पः २ कौत्कुच्यम् ३ मौखर्यम् ४ संयुक्ताधिकरणं ५ उपभोग-परिभोगातिरिक्तं यो मया दैवसिकः अतिचारः कृतः तस्य मिथ्या मे दुष्कृतम् ।

शब्दार्थ

अट्ठमं—आठवां
अणट्ठदंड—अनर्थदण्ड
वेरमणव्वयं—विरमणव्रत
सेय—वह
अणट्ठदंडे—अनर्थदण्ड
चउव्विहे—चार प्रकार का
पन्नत्ते—कहा है
तंजहा—वह इस प्रकार है
अवज्झाणाचरिए—अपध्यान का आचरण करना
पमायाचरिए—प्रमाद का आचरण करना
हिंसप्पयाणे—हिंसाकारी शस्त्रो का प्रयोग करना
पावकम्मोवएसे—पाप कर्म उपदेश करना
इच्चेवमाइस्स—इत्यादि
अणट्ठदंडासेवणस्स—अनर्थदण्ड के सेवन का
पच्चक्खाणं—प्रत्याख्यान
जावज्जीवए—जीवनपर्यन्त
दुविहं—दो करण
तिविहेणं—तीन योग से (अनर्थदण्ड का सेवन)
न करेमि—नहीं करूं
न कारवेमि—नहीं कराऊं

मणसा—मन से
वयसा—वचन से
कायसा—शरीर से
एअस्स—इस
अट्ठमस्स—आठवें
अणट्ठदंडवेरमणस्स—अनर्थदण्ड विरमणव्रत के
समणोवासएणं—श्रावक को
पंच—पांच
अइयारा—अतिचार
जाणियव्वा—जानने चाहिये
न समायरियव्वा—नहीं आचरण करने चाहिये
तंजहा—वह इस प्रकार है
कंदप्पे—कामोद्दीपक कथा करना
कुक्कुइए—भाड की भांति कुचेष्टा करना
मोहरिए—विना प्रयोजन अधिक बोलना
संजुत्ताहिकरणे—अधिकरण शस्त्रों को एक साथ रखना
उवभोगपरिभोगातिरित्ते—उपभोगपरिभोग-वस्तुओं को अधिक रखना
जो—जो
मे—मैंने
देवसिओ—दिन सम्बन्धी
अइयारो—अतिचार
कओ—किया हो तो
तस्स—उसका
मिच्छामि—निष्फल हो
दुक्कडं—पाप

भावार्थ

अनर्थदण्ड

अपने शरीर, पुत्र, पुत्री, परिवार, नौकर, चाकर, समाज, देश, कृषि, व्यापार आदि के अर्थ—निमित्त कार्य करने में होने वाली हिंसा अर्थदण्ड है। इसके अतिरिक्त बिना किसी आवश्यक प्रयोजन के प्रमादादिवश प्राणियों का पूर्ण या अपूर्ण वध करना अनर्थदण्ड है अर्थात् अप्रायोजनिक हिंसा है।

विवेचन

अनर्थदण्ड के चार भेद

१ *अपध्यानाचरित*—जिस चिंतन से—एकाग्रता से पाप अर्थात् अशुभ कर्म का बन्ध होता है, वह अपध्यान है। अपध्यान के दो भेद हैं-आर्त्त और रौद्र। अप्रिय वस्तु का संयोग हो जाने पर, प्रिय वस्तु का वियोग हो जाने पर, अप्रिय के वियोग की और प्रिय के संयोग की सतत चिन्ता करना, वेदना-पीड़ा की निवृत्ति के लिए व्याकुल हो उठना, तथा निदान—मैं अमुक २ हो जाऊं, ऐसा संकल्प करना आर्त्तध्यान है। हिंसा, असत्य, चोरी, और प्राप्त विषय-भोग के संरक्षण के लिये चिन्तन करना रौद्र ध्यान है। प्रयोजन के सिवाय आर्त्त और रौद्र ध्यान में प्रवृत्त होना अपध्यानाचरित अनर्थदण्ड है।

२ *प्रमादाचरित*—मदोन्मत की तरह विना प्रयोजन अपशब्द बोलना, प्रहार करना या मार डालना, एवं साधारणतया घी, तैल, चासनी के पात्र को खुला रखना आदि प्रमादाचरण है।

३ *हिंस्रप्रदान*—निरर्थक हिंसा के स्थानों में हिंसाकारी अस्त्र-शस्त्र देना।

४ *पापकर्मोपदेश*—बिना मतलब पापकारी कार्यों का उपदेश देना, जैसे—चोरों को मार डालो, हिंस्र पशुओं को मारो, वृक्षों को काटो इत्यादि।

व्रत ग्रहण विधि

गुरुदेव! मैं जीवनपर्यन्त दो करण तीन योग से अनर्थ-दण्ड सेवन करने का प्रत्याख्यान करता हूं। मैं स्वयं अनर्थ-

दण्ड का आचरण नहीं करूंगा; मन से, वाणी से, शरीर से। नहीं कराऊंगा, मन से, वाणी से, शरीर से।

अतिचार

इस व्रत के पांच अतिचार श्रावक को वर्जने चाहिए।

१ *कंदर्प*—कामोद्दीपक कथा नहीं करनी चाहिए। मोह को जगाने वाली हास्य-मिश्रित मजाक नहीं करनी चाहिए।

२ *कौत्कुच्य*—भांड की तरह भौंहें, नेत्र, मुंह, हाथ-पैर आदि शरीर के अवयवों को विकृत बनाकर दूसरों को हंसाने की चेष्टा नहीं करनी चाहिये।

३ *मौखर्य*—ढिठाई के साथ असभ्य, असम्बद्ध ( उटपटांग ) एवं निरर्थक वचन नहीं बोलने चाहिये।

४ *संयुक्ताधिकरण*—हिंसाकारी अस्त्र-शस्त्रों को सजा करके नहीं रखना चाहिये। जैसे बन्दूक को गोली भर कर रखना, धनुष को बाण चढ़ा कर रखना, ऊखल-मूसल को, शिला लोढे को, एक साथ रखना। इसका कारण यह है कि अस्त्र-शस्त्रादि को सजा कर रखने से तुरन्त आवेश में अनर्थ हिंसा हो सकती है। अन्य कोई भी उनका उपयोग कर सकता है।

५ *उपभोगपरिभोगातिरेक*—अशन, पान, खादिम, स्वादिम, वस्त्र आभूषण आदि उपभोग-परिभोग की वस्तुओं का निज और आत्मीय जनों की आवश्यकता के उपरान्त सञ्चय नहीं करना चाहिये।

आलोचना—इनके आचरण से अतिचार-दोष लगा हो तो मेरे लिये निष्फल हो।

कंदर्प, कौत्कुच्य एवं उपभोगपरिभोगातिरेक—ये तीनों प्रमादाचरित-विरति के अतिचार हैं। संयुक्ताधिकरण, हिंस्रप्रदान विरति का अतिचार है। मौखर्य, पापकर्मोपदेशविरति का अतिचार है। अतिचारों का असावधानी से चिन्तन करना अपध्यानविरति का अतिचार है।

अतिचार

श्रावक अपनी सामर्थ्य के अनुसार हिंसा आदि का परित्याग करने के लिए अहिंसा अणुव्रत से लेकर उपभोग-परिभोग व्रत तक के सात व्रतों को स्वीकार करता है। श्रावक जितना जितना त्याग करता है, वह धर्म है, जितना-जितना आगार रखता है, वह अधर्म है। आगार के दो पहलू है। एक तो उस (खुलावट) का प्रयोग प्रयोजन सहित करे और एक निरर्थक ही। प्रयोजन-सहित दण्ड को श्रावक सामर्थ्य की कमी के कारण छोड नहीं सकता। पर अनर्थदण्ड में श्रावक को प्रवृत्त नहीं होना चाहिये। इसी उद्देश्य से श्रावक को अनर्थ हिंसा आदि दोषों से निवृत्त करने के लिये अनर्थदण्ड-विरमणव्रत का सृजन किया गया है।

परिशिष्ट

जीवन में संयोग-वियोग का एक महान् विप्लव है। संयोग के पीछे वियोग और वियोग के पीछे संयोग है। संयोग में जो सुख मानता है, वह वियोग में आक्रंद करता है। संयोग-वियोग में एक समान वृत्ति रखने वाला पुरुष न तो अति स्निग्ध कर्मावृत होता है और न अति आसक्त। इसलिये संयोग-वियोग के अवसर पर, वेदना का प्रादुर्भाव हो जाने पर, समभाव रहना, कष्ट को समचित्त से सहना इत्यादि उपदेश का स्रोत अपध्यानाचरित के प्रथमांश त्याग का प्रवाह है। किसी को पीड़ित देखकर सुख मानना, वह मर जाये, इसका सत्यानाश हो जाये,

यह पराजित हो जाये, इस प्रकार का चिन्तन करना, असत् अर्थ के प्रकाशित करने की, सत् अर्थ का अपलाप करने की, दिल को गहरी चोट पहुंचानेवाले वचन बोलने की, दिल को दहलानेवाला मखौल करने की सोचते रहना आदि २ आसुरी वृत्तियों का अन्त करने के लिए अपध्यानाचरित का दूसरा अंश सजीव है। मार्ग में चलते पथिक को गाली देना, पर्व के नाम पर विभत्स चेष्टाएं करना, गंदी गालियां बोलना, जान-बूझकर चींटी आदि को कुचल डालना, मार्ग होते हुए भी वनस्पति को पैरों तले रौंदते चलना, विना मतलब वृक्षों की टहनियां, पत्ते, फल-फूल तोड़ना, तालाब आदि जलाशयों में गन्दी चीजें फेंकना, दारु, ईंधन, वन आदि में शून्यचित्त से आग लगने वाली चीजें फेंकना, विषय में अत्यासक्त होना, विकथा करना, गांव का मैल धोना आदि २ अनार्य आचरणों से बचने के लिये प्रमादाचरित को त्यागना नितान्त आवश्यक है। शस्त्रास्त्र हिंसा के प्रबल साधन हैं। उनका अविवेकपूर्ण व्यवहार या लेन-देन करना उत्कट अनर्थ का हेतु बन जाता है। सुरक्षा के मिष वह विकास को पाता है। आखिर एक दिन उसी यज्ञानुष्ठान में मनुष्य को अपने प्राणों की आहुति देनी पड़ती है। तब मनुष्य का निर्माण मनुष्य का संहार करता है। मनुष्य का बौद्धिक विकास मनुष्यके सर्वस्व को लुटा देता है। तब उसकी शान्त और करुण दृष्टि अपने कृतकार्यों का अवलोकन करती है। बौद्धिक विकास भी करवट बदलता है। शस्त्रास्त्रों के अल्पीकरण या निःशस्त्रीकरण की समस्याओं पर रहस्यभरी दृष्टि डालता है। पर अहिंसा की शान्त मूर्ति का साक्षात्कार किये बिना वह केवल प्रस्तावों

के उलट-फेर में असफल रह जाता है या अस्त हो जाता है। किन्तु धर्मतत्ववेदी श्रावक को अहिंसा एवं संतोष को मद्दे नजर रखते हुए हिंसाकारी शस्त्रास्त्रों का निरर्थक आदान-प्रदान कर विश्व को उत्पीड़ित करने का हेतु नहीं बनना चाहिये। इसीलिए हिंस्रप्रदान का नियम जरूरी होने के साथ २ अत्यधिक सुख-कारक है। निरर्थक पाप कर्म का उपदेश करना आत्म—संयम के विपरीत ही है। यही अनर्थदण्डविरमणव्रत का परमार्थ है।

# प्रथम शिक्षाव्रत

नवमा सामायिक व्रत

मूल पाठ

नवमं सामाइयव्वयं सावज्ज-जोग-वेरमणरूवं जावनियमं पज्जुवासामि दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि मणसा वयसा कायसा एअस्स नवमस्स सामाइयव्वयस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा १ मणदुप्पणिहाणे २ वयदुप्पणिहाणे ३ कायदुप्पणिहाणे ४ सामाइयस्स सइ अकरणया ५ सामाइयस्स अणवट्ठियस्स करणया

छाया

नवमं सामायिक व्रतं सावद्य-योग-विरमणरूपं यावत् नियमं पर्युपासे द्विविधं त्रिविधेन न करोमि न कारयामि मनसा वचसा

कायेन एतस्य नवमस्य सामायिकव्रतस्य श्रमणोपासकेन पञ्च अतिचाराः ज्ञातव्याः न समाचरितव्याः तद्यथा १ मनोदुष्प्रणिधानं २ वागूदुष्प्रणिधानं ३ कायदुष्प्रणिधानं ४ सामायिकस्य स्मृत्यऽकरणता ५ सामायिकस्य अनवस्थितस्य करणता ।

शब्दार्थ

नवमं—नौवा
सामाइव्वयं—सामायिकव्रत
सावज्ज जोगं—सावद्य योग
वेरमणव्वं—विरमणव्रत
जावनियमं—जबतक नियम= नियम का
पज्जुवासामि—पालन करू
दुविहं—दो करण
तिविहेणं—तीन योग से (सावद्य व्यापार)
न करेमि—नही करू
न कारवेमि—नही कराऊ
मणसा—मन से
वयसा—वाणी से
कायसा—शरीर से
एअस्स—इस
नवमस्स—नौवें
सामाइयव्वयस्स—सामायिक-व्रत के
समणोवासएणं—श्रावक को
पंच—पाच
अइयारा—अतिचार
जाणियव्वा—जानने चाहिये
न—नही
समायरियव्वा—आचरण करने चाहिये
तंजहा—वे यह है
मणदुप्पणिहाणे—मनकी सावद्य प्रवृत्ति की हो
वयदुप्पणिहाणे—वचन की सावद्य प्रवृत्ति की हो
कायदुप्पणिहाणे—शरीर की सावद्य प्रवृत्ति की हो
सामाइयस्स सइ अकरणया—सामायिक की स्मृति न रखी हो
सामाइयस्स अणवट्ठियस्स करणया—सामायिकको नियत समय से पहले पूरी की हो

भावार्थ

भगवन्! मैं सावद्य योग विरमणरूप सामायिकव्रत को ग्रहण करता हूं। जबतक (एक मुहूर्त्त तक) इस व्रत का पालन करूं, तबतक मन, वचन और शरीर की सावद्य अर्थात् पाप सहित प्रवृत्ति स्वयं नहीं करूंगा और दूसरों से नहीं कराऊंगा।

विवेचन

अतिचार इस व्रत के पांच अतिचार श्रावक को जाननेचाहिए।

१ *मनोदुष्प्रणिधान*—मन की सावद्य प्रवृत्ति अर्थात् गृह-कार्य, व्यापार, आरम्भ-समारम्भ, हिंसा आदि पांच आश्रव सम्बन्धी चिन्तन नहीं करना चाहिए।

२ *वाग्दुष्प्रणिधान*—वाणी का सावद्य प्रयोग अर्थात् असभ्य, कटु, छेदन-भेदनकारी, आघात पहुंचानेवाला वचन नहीं बोलने चाहिए। खुले मुंह नहीं बोलना चाहिए। गृहस्थ को आओ, चले जाओ, बैठ जाओ, अमुक काम करो इत्यादि सामायिक व्रत के प्रतिकूल आदेश नहीं देना चाहिए।

३ *कायदुष्प्रणिधान*—शरीर की सावद्य प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए। बिना देखे, बिना पूजे उठना, बैठना, चलना आदि नहीं करना चाहिए। प्राणातिपात आदि आश्रवों में शरीर को नहीं लगाना चाहिए।

४ *सामायिक स्मृत्यऽकरणता*—सामायिक की विस्मृति नहीं करनी चाहिए। जैसे—सामायिक व्रत को ग्रहण कर प्रमाद वश उसे भूल जाना, व्रतसम्बन्धी नियमों की सार सम्भाल न रखना।

५ *अनवस्थित सामायिककरण*—सामायिक का कालमान एक मुहूर्त है। उससे पहले सामायिक को पूरी नहीं करनी चाहिए। अस्थिरता से सामायिक को ज्यों-त्यों पूरी नहीं करनी चाहिए। ये सब अनुपयोग एवं अतिक्रमादि की अपेक्षा से अतिचार है।

आलोचना—इनके सम्बन्ध से अतिचार लगा हो तो वह मेरे लिये निष्फल हो।

विवेचन

बार बार अभ्यास करने योग्य व्रतों का नाम शिक्षाव्रत है। प्राक्कथित आठ व्रतों की तरह शिक्षाव्रत का ग्रहण यावज्जीवन के लिये नहीं होता। इनका कालमान पृथक् २ है। शिक्षाव्रत चार हैं। शिक्षा व्रत

(१) सामायिक व्रत
(२) देशावकाशिक व्रत
(३) पौषधोपवास व्रत
(४) अतिथि संविभाग व्रत

सामायिक व्रत पहला शिक्षाव्रत है एवं पूर्व संख्या के क्रम से नौवां व्रत है। आध्यात्मिक आराधना एवं सद् आचरणों का अभ्यास करने के लिये सामायिक व्रत का अनुशीलन महान् लाभप्रद है। इसका विशेष विवरण सामायिक प्रतिज्ञा में देखना चाहिये।

## दूसरा शिक्षाव्रत

दशवा देशावकाशिकव्रत

मूल पाठ

दसमं देसावगासियव्वयं दिण-मज्झे पच्चस्स कालाओ आरब्भ पुव्वादिसु छसु दिसासु जावइयं परिमाणं कयं तओ अइरित्तं सेच्छाए काएणं गंतूणं अन्नेवापहिऊण पंचासवासेवणस्स पच्चक्खाणं जाव अहोरत्तं दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि मणसा वयसा कायसा अहय छसु दिसासु जाव-इयं परिमाणं कयं तम्मज्झेविजावइयाणं दव्वाणं परिमाणं कयं तओअइरित्तस्स भोगो व भोगस्स पच्चक्खाणं जाव अहोरत्तं एगविहं तिविहेणं न करेमि मणसा वयसा कायसा एअस्स दशमस्स

देसावगासियव्वयस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा १ आणवणप्पओगे २ पेसवणप्पओगे ३ सद्दाणुवाए ४ रूवाणुवाए ५ बहियापुग्गलपक्खेवे जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।

छाया

दशमं देशावकाशिकव्रतं दिनमध्ये प्रत्यूषकालाद् आरभ्य पूर्वादिषु षट्सु दिक्षु यावत्कं परिमाणं कृतं ततोऽतिरिक्तं स्वेच्छया कायेन गत्वा अन्यान् वा प्रेष्य पञ्चाश्रवाऽसेवनस्य प्रत्याख्यानं यावत् अहोरात्रं द्विविधं त्रिविधेन न करोमि न कारयामि मनसा वचसा कायेन अथ च षट्सु दिक्षु यावत्कं परिमाणं कृतं तन्मध्येऽपि यावतां द्रव्याणां परिमाणं कृतं ततोऽतिरिक्तस्य भोगोपभोगस्य प्रत्याख्यानं यावत् अहोरात्रं एकविधं त्रिविधेन न करोमि मनसा वचसा कायेन एतस्य दशमस्य देशावकासिकव्रतस्य श्रमणोपासकेन पञ्च अतिचाराः ज्ञातव्याः न समाचरितव्याः तद्यथा १ आनयनप्रयोगः २ प्रेष्यबलप्रयोगः ३ शब्दानुपातः ४ रूपानुपातः ५ बहिःपुद्गलप्रक्षेपः यो मया दैवसिकः अतिचारः कृतः तस्य मिथ्या मे दुष्कृतम् ।

शब्दार्थ

| | |
|---|---|
| दसमं—दशवा | दिण-मज्झे—दिन मे . . . |
| देसावगासियव्वयं—देशावकाशिक व्रत | पच्चसकालाओ—प्रभात काल से |
| | आरब्भ—लेकर |

पुव्वादिसु—पूर्वादि
छसु—छः
दिसासु—दिशाओं मे
जावइयं—जितना
परिमाणं—भूमिका परिमाण
कयं—किया
तओ अइरित्तं—उससे उपरान्त
सेच्छाए—स्वेच्छापूर्वक
काएणं—काया से
गंतूणं—जाकर
अन्नेवापहिऊण—अथवा अन्य को भेजकर
पंचासवासेवणस्स—पांच आश्रव द्वारा सेवन करना
पच्चक्खाणं—प्रत्याख्यान
जाव—यावत्
अहोरत्तं—दिन रात
दुविहं—दो करण
तिविहेणं—तीन योग से
न करेमि—न करू
न कारवेमि—न कराऊं
मणसा—मन से
वयसा—वाणी से
कायसा—शरीर से
अह्य—और
छसु दिसासु—छ. दिशाओं में
जावइयं—जितना
परिमाणं—परिमाण
कयं—किया
तम्मज्झेवि—उसमें
जावइयाणं—जितने
दव्वाणं—द्रव्यो का
परिमाणं कयं—प्रमाण किया
तओअइरित्तस्स—उसके उपरान्त
भोगोवभोगस्स—भोगोपभोग का
पच्चक्खाणं—प्रत्याख्यान
जाव—यावत्
अहोरत्तं—दिन रात
एगविहं—एक करण
तिविहेणं—तीन योग से
न करेमि—न करूँ
मणसा—मन से
वयसा—वचन से
कायसा—शरीर से
एअस्स—इस
दशमस्स—दशवें
देसावगासियव्वयस्स—देशावकाशिक व्रत के

समणोवासएणं—श्रावक को
पंच अइयारा—पाच अतिचार
जाणियव्वा—जानने चाहिये
न समायरियव्वा—नही आचरण करने चाहिये
तंजहा—वे इस प्रकार है
आणवणप्पओगे—मर्यादित क्षेत्र से वाहर की वस्तु मगाना
पेसवणप्पओगे—मर्यादित क्षेत्र से वाहर वस्तु भेजना
सद्दाणुवाए—शब्द के द्वारा मनोगत भावो का ज्ञान कराना
रूवाणुवाए—रूप दिखा कर मन का भाव प्रकट करना
बहियापुग्गलपक्खेवे—ककर आदि फेंक कर भाव जताना
जो मे—जो मंने
देवसिओ—दिनसम्बन्धी
अइयारो—अतिचार
कओ—क्रिया हो तो
तस्स—उसका
मिच्छामि—निष्फल हो
दुक्कडं—पाप

## विवेचन

छठे व्रत में जो दिशाओं का प्रमाण किया है, उसका तथा अन्य सब व्रतों का प्रतिदिन संकोच करना देशावकाशिक व्रत है। यद्यपि मूल पाठ मे दिग्व्रत के आगार का संकोच करने को देशावकाशिक व्रत कहा है तथापि दिग्व्रत के उपलक्षण से (अनुसार) सब अणुव्रत एवं गुणव्रत के रखे हुए आगारों का परिमित काल के लिये संकोच करना देशावकाशिक व्रत है। अतएव उपभोग-परिभोग के २६ बोल, १५ कर्मादान, १४ नियम आदि का समय की अवधि से त्याग करना एवं नमस्कारसहिता (नवकारसी) पौरुषी, उपवास, बेला, तेला यावत् छः मास तक की तपस्या करना, इत्यादि सब देशावकासिकव्रत के अन्तर्गत है। व्रत स्वरूप

व्रतग्रहण विधि

गुरुदेव! मैंने दशवें देशावकाशिकव्रत में प्रतिदिन प्रभात काल से पूर्व आदि छः दिशाओं में जितनी भूमिका प्रमाण किया है उसके उपरांत स्वेच्छापूर्वक अपने आप जाकर अथवा अन्य किसी को भेजकर दो करण तीन योग से ( न करूं, न कराऊं; मनसा, वाचा, कर्मणा ) पांच आश्रव सेवन करने का प्रत्याख्यान करता हूं और छः दिशाओं में भी जितने क्षेत्र का प्रमाण किया है, उसमें भी जितने द्रव्यों का प्रमाण किया है, उनसे अधिक उपभोग-परिभोग वस्तुओं को व्यवहार में लाने का एक करण तीन योग से प्रत्याख्यान करता हूं।

अतिचार

इस व्रत के पांच अतिचार श्रावक को जानने चाहिए।

१ *आगमनप्रयोग*--मर्यादा किये हुए क्षेत्र से बाहर स्वयं न जा सकने के कारण, दूसरे को 'तुम यह चीज लेते आना' इस प्रकार संदेश देकर बाहर की वस्तुएं नहीं मंगानी चाहिए।

२ *प्रेष्यप्रयोग*—मर्यादित क्षेत्र से बाहर आज्ञाकारी पुरुषों के द्वारा वस्तुएं नहीं भेजना चाहिए।

३ *शब्दानुपात*—मर्यादित क्षेत्र के बाहर काम कराने के लिये जम्हाई, खांसी आदि शब्दों के द्वारा भाव नहीं दिखाना चाहिये।

४ *रूपानुपात*—नियमित क्षेत्र के बाहर प्रयोजन होने पर कार्य कराने के लिये अपना रूप-आकृति के भाव या पदार्थ का रूप नहीं दिखाना चाहिये।

५ *बहिःपुद्गलप्रक्षेप*—नियमित क्षेत्र से बाहर प्रयोजन होने पर दूसरों को जताने के लिये तृण, कंकड़ मिट्टी आदि नहीं फेंकना चाहिए।

पहले दो अतिचार अतिक्रम या अनुपयोग की अपेक्षा से हैं और अन्तिम तीनों में व्रत की अपेक्षा रहने के कारण कपट युक्त अतिचार हैं।

आलोचना – इनके आचरण से दोष लगा हो तो वह मेरे लिये निष्फल हो।

दिग्व्रत एवं उपभोगपरिभोग परिमाणव्रत का अधिक कठोर अनुशीलन करने के लिये देशावकाशिकव्रत का विधान किया गया है। दिग्व्रत में गमनागमन का प्रमाण और प्रमाणित क्षेत्र से बाहर हिंसा आदि के आचरण का त्याग यावज्जीवन के लिये किया जाता है। गमनागमन की सीमा के अन्तवर्त्ती वस्तुओं के व्यवहार का यावज्जीवन प्रमाण करने के लिये भोगोपभोग-परिमाणव्रत विहित है, तब विधान-नियम के अनुसार सावधिक प्रमाण की आवश्यकता का अनुभव होता है। एतदर्थ ही देशा-वकाशिकव्रत का विधान अपेक्षित है। सरल शब्दों में यों कहा जा सकता है कि जिस प्रकार अणुव्रतों का क्षेत्र सीमित करने के लिये दिग्व्रत है, उसी प्रकार उनका परिमित काल तक अधिक संकोच करने के लिये देशावकाशिकव्रत है। दिन दिन आव-श्यकताओं का अधिकतर संकोच करना इस व्रत का मुख्य फल है। क्योंकि यावज्जीवन के लिये किये जाने वाले हिंसा आदि के प्रमाण उतने संकुचित नहीं होते जितने एक मुहूर्त्त, एक दिन या सावधिक समय के लिये हो सकते है। यावज्जीवन १००० कोस के उपरान्त जाकर हिंसा आदि दोषाचरण को त्यागने वाला व्यक्ति परिमित काल—एक दो दिन के लिए १०-२० या ५० कोस के आगे उनका त्याग सहज ही कर सकता है। इस व्रत के व्रत विधान

पालने से दिनचर्या को अधिक विशुद्धि के पथ पर लाया जा सकता है। जीवन के कण कण को सफल बनाने के लिये यह अमोघ मन्त्र है। इसका महत्व एवं उपयोगिता पूर्ववर्त्ती व्रतों की महिमा से तुली हुई है। इसका सम्बन्ध केवल छठे सातवें व्रत तक ही सीमित नहीं, पांच अणुव्रत एवं अनर्थदण्ड विरमणव्रत में भी इसका संचार है। यह उन सबका पोषक बन कर स्वयं महान् उपयोगिता का केन्द्र एवं सफलता की आधारशिला बनता है।

## तीसरा शिक्षाव्रत

ग्यारहवां पौषधोपवासव्रत

मूल पाठ

एकारसमं पोसहोववासव्वयं - असण-पाण-खाइम-साइम-पच्चक्खाणं, अबंभपच्चक्खाणं, उम्मुक्क मणिसुवण्णाइ - पच्चक्खाणं-माला-वण्णग-विलेवणाइ पच्चक्खाणं, सत्थ-मूसलाई सावज्जजोग पच्चक्खाणं, जाव अहोरत्तं पज्जुवासामि दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि मणसा वयसा कायसा एअस्स एकारसमस्स पोसहोववासस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा १ अप्पडिलेहिय दुप्पडिलेहिय सिज्जा संथारए २ अप्पमज्जिय दुप्पमज्जिय सिज्जासंथारए ३ अप्प-

डिलेहिय दुप्पडिलेहिय उच्चारपासवणभूमी ४ अप्प-सज्जिय दुप्पसज्जिय उच्चार-पासवणभूमी ५ पोस-होववासस्स सम्मं अणणुपालणया जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

छाया

एकादशं पौषधोपवासव्रतं—अशन-पान-खादिम - स्वादिम-प्रत्याख्यानं अब्रह्म-प्रत्याख्यानं उन्मुक्त-मणि-सुवर्णादि-प्रत्याख्यानं माला-वर्णक-विलेपनादि-प्रत्याख्यानं शस्त्र-मुसलादि-सावद्य-योग-प्रत्याख्यानं यावत् अहोरात्रं पर्युपासे द्विविधं त्रिविधेन न करोमि न कारयामि मनसा वचसा कायेन एतस्य एकादशस्य पौषधोप-वासस्य श्रमणोपासकेन पञ्चातिचाराः ज्ञातव्याः न समाचरितव्याः तद्यथा १ अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित-शय्यासंस्तारकः २ अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित-शय्यासंस्तारकः ३ अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित-उच्चार प्रस्रवण-भूमिः ४ अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित-उच्चारप्रस्रवण-भूमिः ५ पौषधोपवासस्य सम्यगऽननुपालनता यो मयाः दैवसिकः अति-चारः कृतः तस्य मिथ्या मे दुष्कृतम्।

शब्दार्थ

एकारसमं—इग्यारहवा
पोसहोववासव्वयं—पौषधोपवास व्रत
असण-पाण—अशन-पानी
खाइम-साइम—खादिम-स्वादिम के
पच्चक्खाणं—प्रत्याख्यान
अबंभपच्चक्खाणं—मैथुन सेवन का प्रत्याख्यान
उम्मुक्कमणि—उन्मुक्त रत्न
सुवण्णाइ—सोना आदि के

पच्चक्खाणं—प्रत्याख्यान
माला-वण्णग—माला रग
विलेवणाइ—विलेपन आदि के
पच्चक्खाणं—प्रत्याख्यान
सत्थ-मूसलाइ—शस्त्र-मूसल आदि
सावज्ज-जोग—सावद्य व्यापार के
पच्चक्खाणं—प्रत्याख्यान
जाव—यावत्
अहोरत्तं—दिन रात
पज्जुवासामि—पौषधव्रत का सेवन करता हू।
दुविहं—दो करण
तिविहेणं—तीन योग से (सावद्य योग का आचरण)
न करेमि—नही करू
न कारवेमि—नही कराऊ
मणसा—मन से
वयसा—वचन से
कायसा—शरीर से
एअस्स—इस
एकारसमस्स—ग्यारहवें
पोसहोववासस्स—पौषधोपवास व्रत के
समणोववासएणं—श्रावक को

पंचअइयारा—पाच अतिचार
जाणियव्वा—जानने चाहिए
न—नही
समायरियव्वा—आचरण करना चाहिए
तंजहा—वे इस प्रकार हैं
अप्पडिलेहिय-दुप्पडिलेहिय—निरीक्षण न करना या असावधानी से निरीक्षण करना
सिज्जा-संथारए—शय्या-सस्तारक (सथारेको)
अप्पमज्जिय - दुप्पमज्जिय—न पूजना या असावधानी से पूजना
सिज्जा-संथारए—शय्या-सथारेको
अप्पडिलेहिय-दुप्पडिलेहिय—निरीक्षण न करना या असावधानी से निरीक्षण करना
उच्चारपासवणभूमी—उत्सर्गभूमिका
अप्पमज्जिय-दुप्पमज्जिय—न पूजना या असावधानी से पूजना
उच्चार-पासवणभूमि—मलमूत्र की भूमि को
पोसहोववासस्स—पौषधोपवास व्रत को

सम्मंअणणुपालणया—विधिवत् न पालना
जो मे—जो मैंने
देवसिओ—दिन सम्बन्धी
अइयारो—अतिचार
कओ—किया हो तो
तस्स—उसका
मिच्छामि—निष्फल हो
दुक्कडं—पाप

विवेचन

व्रत स्वरूप धर्म को पुष्ट करने वाले नियम विशेष का नाम पौषध है। एक दिन रात तक अनशन (भोजन) पान (पानी) खादिम (जिह्वा के स्वाद के लिये खाये जाने वाले पदार्थ जैसे—फल, मेवा आदि) स्वादिम (मुंह की सफाई के लिये मुंह में रखे जाने वाले पदार्थ जैसे—पान, सुपारी, लवंग आदि) का त्याग करना अथवा पानी के सिवाय तीन आहार का त्याग करना उपवास है। चतुर्विधाहार त्याग सहित उपवास करके उस नियम का पालन करना पौषधोपवासव्रत है।

हे गुरुदेव! मैं एक दिनरात के लिये पौषधोपवास व्रत में अशन आदि चार प्रकार के आहार का त्याग करता हूं। अब्रह्मचर्य सेवन का त्याग करता हूं। उन्मुक्त अर्थात् शरीर पर पहने हुए आभूषणों के सिवाय मणि-सुवर्ण आदि का त्याग करता हूं। फूलों की माला पहिनने का, रंग लगाने का, चंदन आदि का लेप करने का त्याग करता हूं तथा शस्त्र-मूसल आदि सावद्य प्रवृत्तियों को अथवा पापकारी कार्यों को त्यागता हूं। जबतक एक अहोरात्र तक मैं इस व्रत का पालन करता रहूंगा तबतक मन, वाणी एवं शरीर से सावद्य प्रवृत्ति स्वयं नहीं करूंगा और दूसरों से नहीं कराऊंगा।

अतिचार

इस व्रत के पाँच अतिचार श्रावक को जानने चाहिए।

१ *अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित-शय्या-संस्तारक*—शय्या-संथारे को—सोने-बैठने की जगह, ओढ़ने-पहनने के कपड़ों एवं बिछौने बिना देखे या असावधानी से देख कर काम में लाना।

२ *अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित-शय्या-संस्तारक*—शय्या-संथारे को रात के समय बिना पूंजे या असावधानी से पूंज कर काम में लाना तथा बिना पूंजे हाथ-पग पसारना, पार्श्व बदलना (करवट बदलना) अन्य स्थान को प्रमार्जित कर अन्य स्थान में हाथ पैर आदि रखना इत्यादि।

३ *अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित-उच्चारप्रस्रवणभूमि*—मल-मूत्र विसर्जन की भूमि को दिन में न देखकर या असावधानी से देखकर काम में लाना।

४ *अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जितउच्चारप्रस्रवणभूमि*—मल-मूत्रविसर्जन के योग्य भूमि को रात में बिना प्रमार्जन किये मल-मूत्र का विसर्जन करना तथा रात के समय खुली भूमि में शारीरिक-शंका निवृत्ति के लिये जाना पड़े तब भी सिर को ढके बिना जाना।

५ *पौपधोपवास का सम्यक् अपालन*—पौपधोपवासव्रतका विधि-पूर्वक स्थिर चित्त होकर पालन न करना, आहार, अब्रह्मचर्य, सावद्य व्यापार आदि की अभिलाषा करना।

आलोचना—इसके सम्बन्ध से कोई दोष लगा हो तो वह मेरे लिये निष्फल हो।

पहले चार अतिचार असावधानी की अपेक्षा से हैं और भावनासे विरतिका बाधक होने के कारण पाँचवां अतिचार है।

ज्ञातव्य

चतुर्विध आहार के त्यागवाले उपवास में उक्त नियम का पालन करना पौषधोपवास व्रत है। उपवास में पानी पी कर किया जाने वाला पौषध देशावकाशिक व्रत की परिधिमें चला जाता है। पौषध नौवें व्रत का एक विशाल रूप है। नौवें व्रत का कालमान एक मुहूर्त्त का है और इसका कालमान एक दिन रात का है। प्रत्याख्यान दोनों के एक-से हैं।

व्रत विधान

*प्रश्न*—यह प्रश्न सहज ही हो सकता है कि नौवें एवं ग्यारहवें व्रत को दशवें से पृथक् करने की क्या आवश्यकता है? क्योंकि नियमित समय के लिए होने वाले सब त्याग इसके अन्तर्गत हो सकते हैं।

*उत्तर*—यह सच है, इसका समावेश दशवें में हो सकता था तथापि इन दोनों का पृथक् निर्वाचन करने का लक्ष्य विशेष विशुद्धि है। विशेष विशुद्धि की हेतुभूत नियमानुवर्त्तिता के कारण ही ये दोनों उससे (दशवेंव्रत से) भिन्न है।

दशवेंव्रतमें नियम करनेका कालमान निर्धारित नहीं है। वह (दशवां व्रत) दस मिनट के लिये एवं दो मिनटके लिये भी हिंसा आदि का पाँचों का या पांचों में से किसी एक का त्याग करके इच्छानुकूल स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु सामायिक व्रत एवं पौषधोपवास व्रत का पालन इच्छानुकूल नहीं, वह तो विधि पूर्वक ही किया जा सकता है। सामायिक में एक मुहूर्त्त तक एवं पौषध में एक दिन रात तक हिंसा आदि पांचों आश्रव सेवनका अनिवार्यतया त्याग करना पड़ता है। यही इन दोनोंका देशावकाशिकसे अन्तर या विशेषत्व है। पौषध श्रावक का एक उत्कृष्ट नियम है।

## चतुर्थ शिक्षाव्रत

### बारहवा अतिथिसंविभागव्रत

#### मूल पाठ

बारसमं अहा-संविभागव्वयं-समणे-निग्गंथे फासुएणं एसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं वत्थपडिग्गहकंबलपायपुंछणेणं पाडिहारिएणं पीढ-फलगसिज्जासंथारएणं ओसह-भेषज्जेणय पडि-लाभमाणे विहरामि एअस्स बारसमस्स अहा-संविभागव्वयस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा १ सचित्त-निक्खेवणया २ सचित्तपिहणया ३ कालाइक्कमे ४ परववदेसे ५ मच्छरिया ७ जो मे देवसिओ अइ-यारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

छाया

द्वादशम् यथासंविभागव्रतं श्रमणान् निर्ग्रन्थान् प्रासुकेन एषणीयेन अशन-पान-खादिम-स्वादिमेन वस्त्रप्रतिग्रह-कम्बल-पाद-पोञ्छनेन प्रातिहारिकेण पीठफलकशय्यासंस्तारकेण औषध-भैषज्येन प्रतिलाभयमानः विहरामि एतस्य द्वादशस्य यथा-संविभाग-व्रतस्य श्रमणोपासकेन पञ्च अतिचाराः ज्ञातव्याः न समाचरितव्याः तद्यथा १ सचित्तनिक्षेपणता २ सचित्तपिधानता ३ कालातिक्रमः ४ परव्यपदेशः ५ मत्सरिता ६ यो मया दैवसिकः अतिचारः कृतः तस्य मिथ्या मे दुष्कृतम्।

बारसमं—बारहवा
अहा-संविभागव्वयं-यथा संविभाग
समणे—श्रमण
निग्गंथे—निर्ग्रन्थ को
फासुएणं—अचित्त
एसणिज्जेण—एषणीय
असणपाणखाइमसाइमेणं—अशन पान, खादिम स्वादिम
वत्थपडिग्गह—वस्त्र-प्रतिग्रह
कंबलपायपुंछणेणं—कम्बल, पाद-पोछन
पाडिहारिएणं—प्रातिहारिक (जो पदार्थ गृहस्थको वापिस लौटाये जा सकते हैं)
पीढ—पीढा
फलगसिज्जा—फलक, शय्या
संथारएणं—संथारा
ओसह-भेसज्जेणय-औषधि भेषज
पडिलाभेमाणे—प्रतिलाभता हुआ (देता हुआ)
विहरामि— रहूं
एअस्स—इस
बारसमस्स—बारहवे
अहा-संविभागव्वयस्स—यथा संविभागव्रत के
समणोवासएणं—श्रावक को
पंचअइयारा—पांच अतिचारा
जाणियव्वा—जानने चाहिये
न समायरियव्वा—नही आचरण करना चाहिए

तंजहा—वे इस प्रकार हैं
सचित्तनिक्खेवणया—एषणीय वस्तुओं को सचित्त वस्तुओं के ऊपर रखना
सचित्तपिहणाया—सचित्त से ढकना
कालाइक्कमे—काल का अतिक्रमण करना
परववदेसे—अपनी वस्तु को पर की बतलाना
मच्छरिया—मत्सर भाव से
जो मे—जो मैंने
देवसियो—दिन सम्बन्धी
अइयारो—अतिचार
कओ—किया हो तो
तस्स—उसका
मिच्छामि—निष्फल हो
दुक्कडं—पाप

विवेचन

पाच महाव्रत को पालने वाले तथा ४२ दोष-वर्जित भिक्षा लेने वाले साधुओं को अपने घरके निमित्त बने हुए भोजन आदि चवदह प्रकार की वस्तुओंका आत्म-कल्याण की बुद्धि से यथाशक्ति विभाग देना, यथासंविभागव्रत है। इस व्रत का दूसरा नाम अतिथिसंविभागव्रत है। इसका अर्थ है अतिथि को अपने भोजन आदि का विभाग देना। जिनका भिक्षा के लिये आना किसी तिथि या पर्वसे सम्बन्धित नहीं, अमुक दिन या अमुक पर्व में ही भिक्षा लेनेके लिये आये, ऐसा कोई निश्चय नहीं, वे अतिथि हैं। प्रस्तुत प्रकरण में अतिथि शब्द शास्त्र-सम्मत साधुओं का बोधक है; अभ्यागत एवं साधारण भिक्षुओं का नहीं। व्रतस्वरूप

१ *अशन*—मुख्यरूप से भूख मिटाने के लिए खाये जाने वाले पदार्थ, जैसे—रोटी। १४ प्रकार का दान

२ *पान*—पीये जाने वाले पदार्थ, जैसे--पानी। दूध आदि

भी पेय हैं, पर बुभुक्षा शांति के हेतु होने से उनका समा-
वेश अशन में हो जाता है।

३ *खादिम*—जीभ के स्वाद के निमित्त खाये जाने वाले पदार्थ, जैसे--फल, मेवा आदि।

४ *स्वादिम*—मुंह की सफाई के लिए मुंह में रखे जाने वाले पदार्थ, जैसे—लौंग, सुपारी आदि। खादिम एवं स्वादिम का उपयुक्त अर्थ लोक-व्यवहार की अपेक्षा से है। इनका वास्तविक अर्थ तो खाने के उद्देश्य पर निर्भर है।

५ वस्त्र

६ *पात्र*—काष्ठ या मिट्टी के बने हुए खाने, पीने के भाजन।

७ कम्बल

८ *पादपोंछन*—यत्ना के निमित्त पूंजने के काम में आने वाला रजोहरण।

९ *पीढ़*—छोटे पाट।

१० *फलक*—बड़े पाट।

११ *शय्या*—ठहरने के लिए मकान आदि।

१२ *संस्तारक*—बिछौने के लिए घास आदि।

१३ *औषध*—एक चीज से बनी हुई दवा।

१४ *भेषज*—अनेक चीजों के मिलाने से बनी हुई दवा।

इनमें पहले आठ प्रकार के पदार्थ अप्रातिहारिक हैं अर्थात साधु उन्हें लेनेके बाद दाता को वापिस नहीं लौटा सकते और

शेष छः द्रव्य प्रातिहारिक है अर्थात् साधु उन्हें काम में लेकर दाताको वापिस लौटा सकते है।

हे गुरुदेव ! मैं शुद्ध साधुओं को संयमी जीवन-निर्वाह के उपयुक्त १४ प्रकार का दान देने के लिए यथासंविभागव्रत को ग्रहण करता हूं। मैं आत्म-कल्याण की भावना से वैसे साधुओं को मन वचन एवं काया की शुद्धि से प्रासुक वस्तुओं का दान देता रहूंगा। व्रतग्रहणविधि

इस व्रत के पांच अतिचार श्रावक को जानने चाहिए। अतिचार

१ *सचित्तनिक्षेप*—साधु को नहीं देने की बुद्धि से छलयुक्त अचित्त अन्न आदि को सचित्त पदार्थ पर रख देना।

२ *सचित्तपिधान*—साधुओं को नहीं देने की बुद्धि से कपट पूर्वक अचित्त पदार्थ को सचित्त फल आदि से ढक देना।

३ *कालातिक्रम*—भिक्षा के उचित काल का अतिक्रमण कर भावना भाना, मानो साधु कुछ लेंगे भी नहीं और मुझे जानेंगे कि अमुक श्रावक दातार है।

४ *परव्यपदेश*—आहार आदि अपना होने पर भी न देने की बुद्धि से दूसरे का बता देना।

५ *मत्सरिता*—दूसरे की देखा-देखी से, ईर्ष्याभाव से दान देना।

आलोचना—इनके योग से कोई दोष लगा हो, वह मेरे लिये निष्फल हो।

अहिंसक मुनि जीवन-निर्वाह के आवश्यक साधन-भोजन और पानी के लिये भी हिंसा नहीं कर सकते है। उनका जीवन-निर्वाह एक मात्र विशुद्ध भिक्षाचर्य्या पर आधारित रहता है। व्रत विधान

उनके लिए कुछ बना कर भी नहीं दिया जा सकता। वे उन्हीं वस्तुओं को लेते हैं जिनको गृहस्थ अपने लिये बनाता है। अतएव इस व्रत में दुगुना लाभ है। एक तो यह है कि साधु को दान देनेवाला श्रावक अहिंसक शरीर के निर्वाह का आलम्बन बनता है और वह दान देकर अपनी खान-पान सम्बन्धी इच्छाओं का संकोच करता है, नया आरम्भ नहीं करता, यह दूसरा लाभ है। संयमी-दान श्रावक के पवित्र धार्मिक कार्यों में से एक महान् पवित्र कार्य है। लोकभाषा में संयमी-दान के स्थान में सुपात्रदान का प्रयोग किया जाता है। सुपात्र दान के महत्व का गान जैन एवं जैनेतर धार्मिक ग्रन्थों में प्रायः एक स्वर से गाया गया है।

# संलेहणाइयारे

सलेखनाविचार

मूलपाठ

आपच्छिममारणांतिय संलेहणा-झूसणाराहणाय-समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा १ इहलोगासंसप्पओगे२ परलोगासंसप्पओगे ३ जीवियासंसप्पओगे ४ कामभोगासंसप्पओगे ५ मरणासंसप्पओगे तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।

छाया

अपश्चिममारणान्तिकसंलेखना-जोषणाऽऽराधनायाः श्रमणोपासकेन पंच अतिचाराः ज्ञातव्याः न समाचरितव्याः तद्यथा १ इहलोकाऽऽशंसाप्रयोगः २ परलोकाऽऽशंसाप्रयोगः ३ जीविताऽऽशंसा प्रयोगः ४ कामभोगाऽऽशंसाप्रयोगः ५ मरणाऽऽशंसा प्रयोगः तस्य मिथ्यामे दुष्कृतम् ।

शब्दार्थ

अपच्छिमसमारणांतिय—अपश्चिम मारणान्तिक
संलेहणा-भूसणाराहणाय—सलेखना-जोषणा अराधना के
समणोवासएणं—श्रावक को
पंच अइयारा—पाच अतिचार
जाणियव्वा—जानने योग्य है
न—नही है।
समायरिव्वा-आचरण करने योग्य
तंजहा—वे इस प्रकार है
इहलोगासंसप्पओगे—इस लोक के सुखो की वाछा
परलोगासंसप्पओगे—परलोक के सुखो की वाछा
जीवियासंसप्पओगे—असयम जीवितव्य की वाछा
कामभोगासंसप्पओगे—काम भोग की वाछा
मरणासंसप्पओगे—बाल मरण की वाछा
तस्स—उस सम्बन्धी
मिच्छामि—निष्फल हो
दुक्कडं—पाप

भावार्थ

सलेखना अतिचार

श्रावक अन्तिम समय में मृत्यु को पार्श्ववर्त्ती जानकर, अथवा रागद्वेष रहित भावना से सचमुच जीवन से विरक्त हो जाने पर ( कर्मक्षय करने के लिये तपस्या की भावना प्रबल हो उठने पर ) अपने शरीर एवं कषाय को दुर्बल करने के लिये जो अनशनादि तप विशेष करता है, उसका नाम संलेखना है। यह संलेखना व्रत वर्तमान शरीर का अन्त हो, तब-तक लिया जाता है। अतः इसको मारणान्तिक संलेखना कहते हैं।

सलेखना आत्महत्या नही

संलेखना न तो आत्महत्या है और न हिंसा। रागद्वेष प्रमाद आदि भावनाओं से चाहे अपने प्राणों का अन्त किया जाय, चाहे दूसरे का, वह हिंसा है। अपने प्राणों का वियोग

करना आत्म-हत्या एवं अन्य प्राणी के प्राणों का वियोग करना हिंसा कहलाती है। संलेखना में प्राणनाश अवश्य है पर वह हिंसा नहीं। यथार्थ हिंसा का स्वरूप रागादि की वृत्ति से बनता है। संलेखना व्रत एक मात्र कर्मक्षयके लिये आत्माको तपस्या द्वारा उज्ज्वल करनेके लिये ग्रहण किया जाता है। अतः वह रागद्वेष एवं मोह रहित होने के कारण हिंसा की कोटिमे नहीं आता। प्रत्युत् निर्मोही साधना की भावना मे से उत्पन्न होनेके कारण यह शुभ् ध्यान की कोटि मे है। इसको ग्रहण करनेका लक्ष्य कोई भौतिक आशा एवं भौतिक प्रलोभन नहीं—केवल आत्म-शोधन है। अतएव संलेखना न तो आत्महत्या है और न हिंसा ही।

संलेखना के पांच अतिचार श्रावक को जानने चाहिये।

१ *इहलोकाशंसाप्रयोग*—इस लोक अर्थात् मनुष्यलोक सम्बन्धी सुखों की इच्छा करना। जैसे—जन्मान्तर में मैं चक्रवर्ती होऊं, सम्राट, राजा या राजमन्त्री होऊं इत्यादि। अतिचार

२ *परलोकाशंसाप्रयोग*—परलोक अर्थात् देवलोक सम्बन्धी सुखों की अभिलाषा करना। जैसे—जन्मान्तर में मैं इन्द्र या देव होऊं इत्यादि।

३ *जिविताशंसाप्रयोग*—असयंम अर्थात् त्याग-विरति रहित जीवन की अभिलाषा करना।

४ *मरणाशंसाप्रयोग*—बालमृत्यु अर्थात् अज्ञानी की तरह मृत्यु की चाह करना।

५ *कामभोगाशंसाप्रयोग*—सांसारिक वासनाओं में विलासिता आदि प्रवृत्तियों की इच्छा करना।

आलोचना – इनके योग से कोई दोष लगा हो तो वह मेरे लिए निष्फल हो।

परिशिष्ठ संलेखनाके अतिचारों पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट जाना जाता है कि पौद्‌गलिक सुखों की अभिलाषा रखना एवं उनके लिये धर्म करना असली लक्ष्यसे दूर है। धर्म करने का उद्देश्य एक मात्र आत्मशोधन एवं आत्म-विकास है और यही होना चाहिए। भौतिक सुखों का न तो लक्ष्य हो और न होना ही चाहिये। भौतिक सुखों की चाह करने की कोई जरूरत नहीं, वे तो धर्म के अनुगामी हैं, धर्म के गौण फल के रूप में अपने आप प्राप्त होने वाले हैं। यही निर्लेप भावना का बीजमंत्र है। इसकी भूमिका अनासक्ति से ऊंची है। अनासक्ति का व्यवहार तो धर्म से पूर्व की भूमिका अर्थात् कृषि वाणिज्य पशु पालन गृहकार्य आदि नैतिक कार्यावली में भी करना चाहिये। जिससे न तो अन्याय एवं निरीह शोषण की मात्रा बढ़े और न निकाचित कर्म यानी गाढ़तम कर्म भी बंधें। जो पुरुष पौद्‌गलिक सुखों की लालसा को त्याग देता है, वह न तो जीवन से खुश होता है और न मृत्यु से डरता है। उसकी दृष्टि में जीवन और मरण, वेश परिवर्तन या गृह परिवर्तन सरीखा है। धर्म की असलियत को पहचानने का यही सार है।

## तस्स धम्मस्स

मूल पाठ

तस्स धम्मस्स केवलीपन्नत्तस्स अब्भुट्ठिओमि आराहणाए विरओमि विराहणाए सव्वं तिविहेणं पडिक्कंतो वंदामि जिण चउव्वीसं ।

छाया

तस्य धर्मस्य केवलिप्रज्ञप्तस्य अभ्युत्थितोस्मि आराधनाया विरतोस्मि विराधनायां सर्वं त्रिविधेन प्रतिक्रान्तो वन्दे जिन-चतुर्विंशतिम् ।

शब्दार्थ

तस्स धम्मस्स—उस धर्म की
केवली पन्नत्तस्स—केवलीभाषित
अब्भुट्ठिओमि—सावधान होता हू
आराहणाय—आराधना करने के लिए
विरओमि—विरक्त होता हूं
विराहणाय—विराधना स

सव्वं—सब प्रकार से
तिविहेणं—मन, वचन और शरीर से
पडिक्कंतो—निवृत्त होता हुआ
वंदामि—वन्दन करता हू
जिणचउव्वीसं—चौवीस तीर्थंकरो को

भावार्थ मैं केवली भगवान् कथित धर्म की आराधना करने के लिये सावधान होता हूं। उसकी विराधना की हो तो सब प्रकार से मन, वचन और काया से निवृत्त होता हुआ, उससे विरक्त होता हूं और भगवान् आदिनाथ से भगवान् महावीर तक जो चौबीस तीर्थंकर हुए हैं, उनको नमस्कार करता हूं। धर्म की आराधना करने को उद्यत होना, उसकी विराधना से दूर रहना परम हित का उपाय है। धर्म की विराधना से पृथक् रहने का उपाय मन, वचन, और शरीर सम्बन्धी चेष्टाओं की निवृत्ति है। अतः इनसे निवृत्त होकर ही धर्म-आराधना करने का उपदेश दिया है। इस अवसर्पिणी काल में चौबीस तीर्थंकरों ने प्राणीमात्र के हितार्थ त्याग-तपस्यारूप धर्म का मार्ग दिखलाया था। अतएव उन परम आत्माओं को नमस्कार करता हूं।

## खामणा

मूल पाठ

खामेमि सव्वजीवे, सव्वेजीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्व भूएसु, वेरं मज्झ न केणइ॥

छाया

क्षमयामि सर्वं जीवान्, सर्वे जीवाः क्षाम्यन्तु मे,
मैत्री मे सर्वभूतेषु, वैरं मम न केनचित्।

शब्दार्थ

खामेमि—क्षमाता हूं
सव्वजीवे—सब जीवोको
सव्वेजीवा—सब जीव
खमंतुमे—मुझको क्षमा करें
मित्तीमे—मित्रता है मेरी
सव्वभूएसु—सब प्राणियो
से—प्राणी मात्रसे
वेरंमज्झ न—मेरी वैर-शत्रुता
नही है
केणइ—किसीके साथ

"मैं सब जीवों को क्षमाता हूं—सब जीव मुझे क्षमा करें, प्राणीमात्र के साथ मेरी मित्रता है—किसी के भी साथ मेरी शत्रुता नहीं है।" अहा! कितना सुन्दर उपदेश!! क्या इससे भी बढ़ कर कोई विश्व-शांति का साधन है। जगन्मैत्री की सद्भावना के बिना विश्व-शान्ति का अंकुर पल्लवित नहीं हो सकता, चाहे कितना ही अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण क्यों न किया जाय, क्यों न कितना ही शान्ति-परिषदों का समारोह किया जाय। शान्ति, हृदय को सरल एवं स्वच्छ किये बिना नहीं हो भावार्थ

सकती। हृदय-मालिन्य शांति-पथ में रोड़ा है। हृदय-मालिन्य के हेतु क्रोध, ईर्ष्या, अहंकार, स्वार्थ आदि अवगुण हैं। इनसे मनोवृत्ति कुटिल हो जाती है, जिससे विचारधारा का प्रवाह मैत्री की ओर अग्रसर नहीं हो सकता। विचारों में मैत्री-भावना का संचार हुए बिना विश्व-शांति के स्वप्न भी असम्भव है। वस्तुतः यदि हम विश्व-शांति का इच्छुक हैं तो हमें इस सुधातिरेक सदुपदेश को हृदय से पालना चाहिए। इसमें कितनी सद्भावना, कितनी सचाई और कितना आर्जव है! "मैं प्राणी मात्र से अपने अपराधों की क्षमा मांगता हूँ और प्राणी मात्र को उनके अपराधों के लिये क्षमा करता हूं। इसप्रकार के शावाचरण से ही भावना मैत्री से गद्‌गद् हो उठती है। सबसे क्षमा मांगना और सबको क्षमा करना मैत्री का बीज है।

## ८४ लाख जीवयोनि

सात लाख पृथ्वीकाय, सात लाख अप्काय, सात लाख तेजस्काय, सात लाख वायुकाय, दश लाख प्रत्येक वनस्पतिकाय, चौदह लाख साधारण वनस्पतिकाय, दो लाख द्वीन्द्रिय, दो लाख त्रीन्द्रिय, दो लाख चतुरिन्द्रिय, चार लाख नारकी, चार लाख देवता, चार लाख तिर्यंच पंचेंद्रिय, चौदह लाख मनुष्यकी जाति—चार गति चौरासी लाख जीव-योनिपर राग-द्वेष आया हो तो मिच्छामि दुक्कडं।

## सामायिक-पारणविधि

नवमें सामायिक व्रतमें जो कोई अतिचार-दोष लगा हो तो उसकी मैं आलोचना करता हूं: १ मनयोग सावद्य प्रवर्ताया हो, २ वचनयोग सावद्य प्रवर्ताया हो, ३ काययोग सावद्य प्रवर्ताया हो, ४ सामायिककी सार-संभाल न की हो, ५ सामायिकका काल-मान पूरा होनेके पहिले ही सामायिक पारी हो। सामायिकमें स्त्रीकथा, भक्त-कथा, देशकथा, राजकथा की हो, तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

सामायिकव्रत श्रावकके आदरणीय बारह व्रतोंमेंसे नवमां व्रत है। सामायिकका काल-मान एक मुहूर्तका है। इस अवधि के बीचमें—सामायिकव्रत पालनेके समय प्रमादवश, भूल से या जानबूझ कर जो कोई मामूली स्खलना हो जाती है उसका सामायिक पारणविधि प्रायश्चित्त है। सामायिककी पूर्त्ति इससे

करना आवश्यक है। अथवा सामायिकका काल-मान पूरा हो जानेके पश्चात् सामायिक पारणविधिका ध्यानपूर्वक उच्चारण करना अत्यावश्यक है। इसके उपरान्त यदि सामायिकमें अधिक दोष लगा हो तो उसके लिये गुरुके समक्ष प्रायश्चित्त कर लेना चाहिए।

# देवसिय-पायच्छित्त

## दैवसिक-प्रायश्चित्त

### मूल पाठ

देवसिय-पायच्छित्त-विसोहणट्ठं करेमि काउस्सग्गं।

### छाया

दैवसिक प्रायश्चित्त विशोधनार्थं करोमि कायोत्सर्गम्

### शब्दार्थ

देवसिय—दिवस-सम्बन्धी
करेमि—करता हूं
पायच्छित्त—प्रायश्चित्तकी
काउस्सग्गं—कायोत्सर्ग।
विसोहणट्ठं—विशुद्धिके लिए

भावार्थ हे गुरुदेव ! दिनमें मन वचन और शरीरसे प्रायश्चित्त योग्य कोई अतिचार सेवन किया हो तो उसकी शुद्धिके लिये कायोत्सर्ग करता हूं।

प्रायश्चित्त पाप की शुद्धि के लिये की जानेवाली क्रिया—अनुष्ठान को प्रायश्चित्त कहते हैं।

दैवसिक ४, पाक्षिक १२, चातुर्मासिक २० सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में ४०, लोगस्सका ध्यान करना चाहिये।

# परिशिष्ट

## पंच पद वन्दना

पहिले* पदे श्री सीमंधर स्वामी आदि जघन्य बीस तीर्थंकर देवाधिदेव उत्कृष्ट एक सौ साठ तीर्थंकर देवाधिदेव पंच महा-विदेह क्षेत्र में विचरते हैं—अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र, अनन्त बल, अशोक वृक्ष, पुष्पवृष्टि, दिव्यध्वनि, देवदु-न्दुभि, स्फटिक सिंहासन, भामण्डल, छत्र, चामर इन द्वादश गुणों के धारक, एक हजार आठ शुभ लक्षण युक्त शरीर, चौसठ इन्द्रों के पूजनीय, चौंतीस अतिशय, पैंतिस वचनातिशय, से सुशोभित इस प्रकार के श्री अरिहन्त देवों के प्रति हाथ जोड, मान मोड़ "तिक्खुतो आयाहिणं पयाहिणं वंदामि नमंसामि सक्कारेमि सम्मा-णेमि कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासामि मत्थएण वंदामि।"

---

* जघन्य—कम-से-कम। तीर्थंकर—इस समय महाविदेह नामक क्षेत्रमें विद्यमान है। अरिहंतोके यह बारह गुण बतलाये हैं, उनमे पहले चार तो उनके आत्म गुण हैं और शेष ८ उनके अतिशय यानी विशेषताये है। यह योगजन्य विभूतिया योगशक्तिके द्वारा योगियोको प्राप्त हुआ करती है। तीर्थंकर परम योगिराज है। उनको यह विभू-तिया मिले, इसमें कोई आश्चर्य नही। जैनाचार्योंने योगशक्तिका बडा भारी महत्त्व बतलाया है। महर्षि पतञ्जलिका योग विभूतिपाद भी

दूसरे* पदे अनन्त सिद्ध पन्द्रह प्रकार से अनन्त चौवीसी अष्ट कर्मों को क्षय करके मोक्ष पहुंचे—केवलज्ञान, केवलदर्शन, आत्मिक सुख, क्षायक सम्यक्त्व, अटल अवगाहना, अमूर्तित्व, अगुरुलघुत्व, अन्तराय रहित ये अष्ट गुण संयुक्त जन्म-मरण-जरा रोग-शोक दुख-दारिद्रय रहित सर्वदा शाश्वत सुखपूर्वक विराजमान हैं—ऐसे श्री सिद्ध भगवान् प्रति हाथ जोड़, मान मोड़ "तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं वंदामि नमंसामि सक्कारेमि सम्माणेमि कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासामि मत्थएण वंदामि।"

---

इस विषयपर काफी अच्छा प्रकाश डालता है। १—तीर्थंकर जहां होते हैं, वहा उनके शरीरसे ऊँचे एक अशोक वृक्ष बन जाता है। वह वृक्ष केवल पुद्गलोका बना हुआ होता है। २—देवता कृत्रिम फूल बरसाते हैं। ३—दिव्य ध्वनि होती है। ४—देवता दुन्दुभि बजाते है। ५—स्फटिकका सिंहासन बन जाता है। ६—सिरके पीछे प्रभाका मण्डल होता है। ७—स्वाभाविक तीन छत्र होते हैं। ८—स्वाभाविक चामर डुलते हैं।

* इस अनादिकाल प्रवाहमे अनन्त जीव सिद्ध हो चुके हैं। उनमें ९ गुण होते हैं। वह गुण आठ कर्मोको क्षीण कर डालनेसे प्रकट होते हैं। १—ज्ञानावरणीय कर्मका क्षय हो जानेसे केवलज्ञान—अनन्त ज्ञान होता है। २—दर्शनावरणीय कर्मका क्षय हो जानेसे केवलदर्शन—अनन्त दर्शन होता है। ३—मोहनीय कर्मका क्षय हो जानेसे क्षायक सम्यक्त्व होती है। ४—आयुष्य कर्मका क्षय हो जानेसे अटल अवगाहन—न जन्मना और न मरना अथवा परावर्तन न होना होता है। ५—नाम कर्मका क्षय हो जानेसे अमूर्तिकपन—अशरीरीपन होता है। ६—गोत्र कर्मका क्षय हो जानेसे अगुरुलघुपन—न छोटापन और न बडापन होता है।

तीसरे* पदे मेरे धर्माचार्य गुरु पुज्य महाराजाधिराज श्री १०८ श्री तुलसीरामजी स्वामी आदि—वे आचार्य भगवान् कैसे हैं—पञ्च महाव्रत के पालने वाले, चार कषाय के टालने वाले पंचाचार के पालने वाले, पञ्च समिति और तीन गुप्ति से युक्त, पाँच इन्द्रियों को जीतने वाले, नववाड़ सहित ब्रह्मचर्य को पालनेवाले तथा छत्तीस गुणों के धारक, शासनशृङ्गार, गच्छाधार, धर्मधुरन्धर, सयल-शुभङ्कर, भुवन-भासक, मिथ्यात्वनाशक, तीर्थङ्कर देववत् धर्मोद्योतकारी—ऐसे महापुरुष आचार्यश्रीके प्रति हाथ जोड़, मान मोड़, "तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं वंदामि नमंसामि सक्कारेमि सम्माणेमि कल्लाणं मङ्गलं देवयं चेइयं पज्जुवासामि मत्थएण वंदामि।"

* पाच महाव्रत—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह। चार कषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ। पाच आचार—ज्ञान-आचार, दर्शन-आचार, चरित्र-आचार, तप-आचार, वीर्य (सामर्थ्य) आचार। पाच समिति—ईर्या—देखकर चलना, भाषा—पापरहित बोलना, एषणा—दोषरहित आहार-पानी आदि ग्रहण करना, आदान-निक्षेप—अपने वस्त्र-पात्रोको सावधानीसे लेना-रखना, उत्सर्ग—निर्जीव भूमि में मल-मूत्रका उत्सर्ग करना। तीन गुप्ति—मनका निग्रह करना, वचनका निग्रह करना, शरीरका निग्रह करना। पाच इन्द्रिय—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र। नव वाड़—१—स्त्री, पशु तथा नपुसक रहित स्थानमे रहना। २—शृङ्गार रसोत्पादक कथा न करना। ३—स्त्रियोके साथ एक आसनपर न बैठना। ४—स्त्रियोके अगोपागोका अवलोकन न करना। ५—स्त्रियोके कामक्रीडाके शब्द न सुनना। ६—गृहस्थपनमें भोगे हुए भोगोका स्मरण न करना।

चौथे* पदे उपाध्यायजी महाराज वे कैसे हैं—ग्यारह अङ्ग और बारह उपाङ्गो का स्वयं अध्ययन करते और दूसरों को अध्ययन करवाते हैं—ऐसे पच्चीस गुणोंके धारक श्री उपाध्यायजी महाराज के प्रति हाथ जोड़, मान मोड़, "तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं वंदामि नमंसामि सक्कारेमि सम्माणेमि कल्लाणं मङ्गलं देवयं चेइयं पज्जुवासामि मत्थएण वंदामि।".

७—विषयोत्पादक स्निग्ध एव सचिक्कण आहार न करना। ८—मर्यादासे अधिक भोजन न करना। ९—शरीरकी विभूषा न करना।

*११ अग—१ आचाराग, २ सूत्रकृताग, ३ स्थानाग ४ समवायाग, ५ भगवती, ६ ज्ञाता-धर्मकथा, ७ उपासकदशा, ८ अन्तकृतदशा, ९ अनुत्तरोपपातिकदशा, १० प्रश्नव्याकरण ११ विपाक।

१२ उपाग—१ औपपातिक, २ राजप्रश्नीय, ३ जीवाभिगम, ४ प्रज्ञापना, ५ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ६ चन्द्रप्रज्ञप्ति, ७ सूर्यप्रज्ञप्ति ८ निरयावलिका, ९ कल्पवतसिका, १० पुष्पिका, ११ पुष्पचूलिका, १२ वृष्णिदशा।

उपाध्याय को इन ११ अग और १२ उपागो का अध्ययन रहता है अतः उनके ये २३ गुण माने गये है और दो गुण ये हो जाते है कि वे इन २३ सूत्रो का १ स्वय अध्ययन-मनन करते रहते है और २ दूसरो को करवाते रहते[1] है। यहा एक प्रश्न होता है कि भगवान् महावीर के समय से लेकर जब तक १२ अंग उपलब्ध थे, तब उपाध्याय के गुणो की गणना कैसे की जाती थी। इसका समाधान करने के लिए हम कल्पनाए कर सकते है—बारहवे अग—दृष्टिवाद की

१—एक अन्य परम्परा के अनुसार उपाध्यायके ११ अग, १२ उपाग, चरणसत्तरी एव करणसत्तरी ये २५ गुण माने जाते है।

पांचवें * पदे जघन्य ( कम से कम ) दो हजार क्रोड से अधिक साधु-साध्वी उत्कृष्ट ( अधिक से अधिक) नव हजार क्रोड़ साधु-साध्वी अढ़ाई द्वीप पन्द्रह क्षेत्रों में विहार करते है, वे महा मुनिराज कैसे हैं—पञ्च महाव्रत के पालनहार पांच इन्द्रियों के

---

उपलब्धि तक की परम्परा में उपाध्याय के गुणो की सख्या क्या थी, इसकी आगम में कोई भी चर्चा हमें उपलब्ध नही होती है अत बल-पूर्वक यह नही कहा जा सकता कि उस समय भी उपाध्यायके गुण २५ ही सगृहीत थे। दूसरे—दृष्टिवाद को सम्मिलित कर लेने पर भी यदि अध्ययन एव अध्यापन एक गुण माना जाता हो तो भी गुण-सख्या २५ हो सकती है, अथवा अध्ययन—अध्यापन यदि पृथक् पृथक् गुण माने जाते थे तो सम्भवत' दृष्टिवाद का अधिकार उपाध्याय के अधिकार में न रह कर आचार्य के अधिकार में ही रहता है यद्यपि यह साधारणतया तो सभव नही। क्योंकि अध्यापन-कार्य प्रमुखरूपेण उपाध्यायके अधिकार में होता है। किन्तु दृष्टिवाद का क्वचित् अपवाद हो। खैर, जो कुछ हो आज आगम परम्परा में से हम निश्चयपूर्वक कुछ भी नही कह सकते। आगम की उत्तरवर्ती परम्परा में जो सग्रह हुआ है, उसमें उपाध्याय के गुणोकी सख्या यो ही उपलब्ध होती है।

* आचार्यके ३६ गुण एव साधुके २७ गुणोको गहराई से देखे तो इनमें कोई भी खास अन्तर नजरमें नही आता। आचार्य पदकी महत्ताके अनुसार उनकी विशेषताओका दिग्दर्शन क्यो नही कराया गया? आचार्यके जितने गुण बतलाये गये है, वे तो प्रत्येक साधुमें अवश्य उप-लब्ध होते हैं, जिसमें इन आवश्यक गुणोकी कमी हो, वह साधु भी नही हो सकता?

जीतनहार, चार कषाय के टालनहार, [1]भाव सत्य, [2]करण सत्य [3]योग सत्य, क्षमावन्त, वैराग्यवन्त, [4]मनसमाधारणता, [5]वचन-समाधारणता, [6]कायसमाधारणता, ज्ञान-सम्पन्न, दर्शन-सम्पन्न, चारित्र सम्पन्न, वेदना ( कष्ट ) आने से उसे समभावपूर्वक सहन करनेवाले, मृत्यु को समभावपूर्वक सहन करनेवाले, इन सत्तावीस" गुणोके धारक, बावीस परिषहों को जीतने वाले, बयालीस दोष टाल कर आहार पानी लेने वाले, बावन अनाचारों को टालने

---

हा, यह सच है कि ये ३६ गुण प्रत्येक साधुमे होते हैं परन्तु आचार्य की गुणावलीमें इनकी परिगणना एक तथ्यको लेकर हुई है। यो तो आचार्य अतिशयके अक्षयनिधि एव अरिहन्तके प्रतिनिधि होते है। तो भी उनकी खास विशेषता यह है कि वे स्वय आचार-कुशल होते है और दूसरोको आचार-कुशल रहनेकी प्रेरणा करते रहते हैं। आचार्यकी आचार-कुशलता प्रत्येक साधुके लिए आदर्श होती है। भगवान् महावीर ने उक्त ३६ गुणोकी उज्ज्वलतामें अनन्त गुण तर तम बतलाया है। उक्तगुण राकाके चन्द्रमाके समान निर्मल होते है और प्रदिपदाके चादके समान भी। इस उपमासे पाठक समझ सकेंगे कि गुणगणनाके समान होने पर भी उज्ज्वलतामे कितना अन्तर है? कहा तो वह प्रतिपदाकी लम्बी सी लकीर और कहा वह पूर्ण ज्योत्स्नाका अधिनायक पूनमका चांद, राका शशि। आचार्यकी गुणराशि अत्यधिक समुज्ज्वल एव देदीप्यमान होती है अतः आचार्यकी अन्य विशेषताएं न बतला कर उक्त मौलिक विशेषताएं बतलाना कोई असगत बात नही, किन्तु आदर्शवाद है।

१—भावोको सरल रखना २—योगविशुद्धि खना

३—वाणीकी समाधि रखना ४—क्रियाकी विशुद्धि रखना

५—मनकी समाधि रखना ६—शरीरकी समाधि रखना

वाले, निर्लोभी, निर्लाची, संसार से उदास, मोक्ष के अभिलाषी संसार से विमुख, मोक्ष के सन्मुख, सचित्त के त्यागी, अचित्त के भोगी न्योता देने से भोजन नहीं करने वाले, बुलाने से नहीं आनेवाले, वायुवत् अप्रतिबन्धविहारी--इस प्रकार के महाउत्तम मुनिराजप्रति हाथ जोड़, मान मोड़, तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं वंदामि नमंसामि सक्कारेमि सम्माणेमि कल्लाणं मङ्गलं देवयं चेइयं पज्जुवासामि मत्थएण वंदामि।

---

# प्रतिक्रमण करने की विधि

प्रथम मन, वचन, काया के योगों को स्थिर कर "तिक्खुता के पाठ से विधि सहित गुरुदेव को नमस्कार कर, हाथ जोड़ "चउवीसत्थव" की आज्ञा लेकर "चउवीसत्थव" करे। "चउवीसत्थव" की विधिः - "ईर्यापथिकी" सूत्र का पाठ पढ़े, "तस्सुत्तरी" के पाठ में "तावकायं" तक प्रकट कह कर शरीर की हलन-चलन क्रिया को रोक कर ध्यान करे। ध्यान में "ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं, वोसिरामि" कह कर "ईर्यापथिकी"* का पाठ पढ़े और एक नमस्कारमन्त्र का स्मरण कर ध्यान पूरा करे। पीछे "लोगस्स" का पाठ कह कर दायें घुटने को जमीन पर टेक कर बायें घुटने को जमीन से चार अँगुल ऊँचा रख कर "नमोत्थुणं" का पाठ कहे। पीछे गुरुदेव को वन्दन कर "दैवसिक" प्रतिक्रमण की आज्ञा ले। पीछे "मत्थएण वन्दामि" प्रथम आवश्यक की आज्ञा है ऐसा कहे।

प्रथम सामायिक आवश्यक

सामायिक आवश्यक में खडा होकर "आवस्सही इच्छा कारेण", एक नमस्कार मन्त्र, सामायिक सूत्र, इच्छामि ठाइउं काउ

---

* इसके विषयमे दो परम्परायें हैं। एक ईर्यापथिक सूत्रका समर्थन करती है और दूसरी लोगस्सका। तेरापन्थमे अबतक पहली परम्परा चालू है।

समं" "तस्स उत्तरी" के पाठ में "तावकायं" तक प्रकट कह कर ध्यान करे, ध्यान में "ठाणेणं, मोणेणं, झाणेणं, अप्पाणं, वोसिरामि" कह कर चौदह ज्ञान के अतिचार, पांच सम्यक्त्व के, साठ व्रतों के तथा पन्द्रह कर्मादान (सातवें व्रत के अतिचार के संलग्न कहना), पांच संलेखना के ये निन्यानवें अतिचार, अठारह पाप स्थान, मूल गुण, पांच अणुव्रत आदि "इच्छामि आलोइउं" और एक नमस्कार मन्त्र कहकर ध्यान पारे। प्रथम आवश्यक समाप्त, ऐसा कहे।

"मत्थएण वंदामि" द्वितीय आवश्यक की आज्ञा है - ऐसा कह कर लोगस्स का पाठ एक बार पढ़े। द्वितीय आवश्यक समाप्त, ऐसा कहे। द्वितीय चतुर्विंशति स्तव आवश्यक

"मत्थएण वंदामि" तृतीय आवश्यक की आज्ञा है, ऐसा कहे। तृतीय वंदना आवश्यक
तृतीय आवश्यक में खड़ा होकर "खमासमण" का पाठ कहे। "खमासमण" में "निसीहियाए" (शब्द) आवे तब हाथ जोड़ कर खड़ा-खड़ा वन्दना करे, पीछे "अणुजाणह मे मिउग्गहं" (शब्द) आवे तब दूसरी बार वन्दना करके "निसीहि" कह कर दोनों घुटनों को खड़े रख के गोदुग्धासन की तरह बैठ कर "दिवसो वइक्कंतो" (शब्द) आवे तब तीसरी बार वन्दना करे। "जत्ता भे" (शब्द) आवे तब चौथी बार वन्दना करे। "जावणिज्जंच भे" (शब्द) आवे तब पांचवीं बार वन्दना करे। "देवसियं वइक्कमं" (शब्द) आवे तब छठी बार वन्दना करके "आवस्सियाए" पडिक्कमामि" आदि सर्व पाठ खड़ा होकर कहे। पीछे "खमासमण"

* प्रथम और द्वितीय आवश्यक खड़े २ करें।

का एक पाठ दूसरी बार फिर उपर्युक्त रीति से करे, परन्तु "निसीहि" कह कर बैठने के बाद उठे नहीं। शेष सब पहिले "खमासमण" के अनुसार ही करे। तीसरा आवश्यक समाप्त, ऐसा कहे।*

"मत्थएण वंदामि" चौथे आवश्यक की आज्ञा है—ऐसा कहे। फिर खड़ा होकर निन्नानवें अतिचार आदि का जो ध्यान किया था, वह प्रकट कहे। फिर बैठकर दायें घुटने को ऊँचा रख कर दोनों हाथ जोड़कर नीचे लिखे अनुसार ८ पाठ कहे। १ तस्स सव्वस्स, २ नमस्कार मन्त्र, ३ सामायिक, ४ चत्तारि मंगलं, ५ इच्छामि पडिक्कमिउं जो मे, ६ इच्छामि पडिक्कमिउं इरियावहियाए, ७ आगमे तिविहे" (मूल पाठ) ८ दंसणंसिरिसमत्तं (मूल पाठ) बारह व्रत अतिचार सहित (मूल पाठ) पाँच संलेखना का अतिचार (मूल पाठ) अठारह पापस्थान, इच्छामि पडिक्कमिउं जो मे, "तस्स धम्मस केवलीपन्नत्तस्स अब्भुट्ठिओमि" कह कर खड़ा होवे पीछे "विरओमि विराहणाए" आदि शेष पाठ

चतुर्थ प्रतिक्रमण आवश्यक

* "खमासमण" के पाठ मे दिवस, रात्रि, पक्ष, चातुर्मास, सवत्सर सम्बन्धी प्रतिक्रमण म अनुक्रम से निम्नलिखित पाठ कहे:—

"दिवसो वइक्कंतो, राई वइक्कंतो, दिवसो पक्खो वइक्कंतो, दिवसो चउमासो पक्खो वइक्कंतो, दिवसो संवच्छरो वइक्कंतो, देवसियं वइक्कमं, राइयं वइक्कमं, देवसियं पक्खियं वइक्कमं, देवसियं चउमासियं पक्खियं वइक्कमं, देवसियं संवच्छरियं वइक्कमं। देवसियाए आसायणाए, राइय आसायणाए, देवसिय पक्खिय आसायणाए, देवसिय चउमासिय पक्खिय आसायणाए, देवसिय संवच्छरिय आसायणाए", ऐसा कहे।

कह कर "खमासमण" का पाठ दो वार विधिवत् कहे; पीछे घुटना नीचे जमीन पर रखकर पाँच पदों की वन्दना देकर खड़ा होकर "खामेमि सव्वेजीवा", सात लाख पृथ्वीकाय का पाठ कहे। चौथा आवश्यक समाप्त, ऐसा कहे।

पचम कायोत्सर्ग आवश्यक

"मत्थएण वंदामि" पाँचवें आवश्यक की आज्ञा है, ऐसा कहे। फिर खड़ा होकर "देवसिय पायच्छितं," नमस्कार मन्त्र, सामायिक, "इच्छामि ठाइउं," "तस्स उत्तरी" पाठ में "ताव कायं" तक प्रकट कह कर पीछे ध्यान करे। ध्यान में "ठाणेणं, मोणेणं, झाणेणं, अप्पाणं, वोसिरामि" कहकर दैवसिक तथा रात्रिक प्रतिक्रमण मे ४ "लोगस्स", पक्षी में १२, "लोगस्स", चतुर्मासिक पक्षी में २० "लोगस्स", सम्वत्सरी में ४० "लोगस्स" का ध्यान करे। एक नमस्कार मन्त्र कह कर ध्यान खोले। पीछे "लोगस्स" का पाठ एक वार और दो वार "खमासमण" का पाठ पूर्वोक्त विधि से कह कर, पाँचवां आवश्यक समाप्त—ऐसा कहे।

पष्ठ प्रत्याख्यान आवश्यक

"मत्थएण वंदामि" छठे आवश्यक की आज्ञा है—ऐसा कहे। पीछे भूत काल का प्रतिक्रमण, वर्तमान काल की सामायिक तथा भविष्यत् काल का प्रत्याख्यान ऐसा कह कर यथाशक्ति दैवसिक तथा रात्रिक में एक दिन का, पाक्षिक में एक पक्ष का, चातुर्मासिक में चार मास का तथा सावत्सरिक प्रतिक्रमण मे एक वर्षका प्रत्याख्यान करे। पीछे सामयिक१, चौवीसत्थव२, वन्दना३, प्रतिक्रमण४, कायोत्सर्ग५, प्रत्याख्यान६, ये छः आवश्यक समाप्त, ऐसा कहे। पीछे इन छओं आवश्यकों में जान में, अनजान में, जो कोई अतिचार-दोष लगा हो तथा पाठ का उच्चारण करते समय मात्रा,

अनुस्वार, बिन्दु, अक्षरहीन अधिक, ऊँचा, नीचा, आगे, पीछे कहा हो तो "तस्स मिच्छामि दुक्कडं" ऐसा कहे।

ऐसा कह कर पीछे पूर्वोक्त विधि से दो "नमोत्थुणं" कहे जिसमें दूसरे "नमोत्थुणं" में "ठाणं सम्पत्ताणं" के स्थान में "ठाणं संपाविउकामाणं" ऐसा कहे। पहला "नमोत्थुणं" सिद्ध भगवंत को हो, दूसरा "नमोत्थुणं" अरिहन्त भगवन्त को हो, तीसरा "नमोत्थुणं" मम धम्मायरियस्स धम्मउवदेसगस्स थवत्थुई मंगलं" मेरे धर्माचार्य गुरु पूज्य श्री श्री १००८ श्री श्री तुलसीरामजी स्वामी को हो, ऐसा कहने के बाद पांच नमस्कार मन्त्र कहे तथा रात्रिक प्रतिक्रमण में पांच नमस्कार मंत्र प्रतिक्रमण की आदि में कहे।*

---

* प्रतिक्रमण में दैवसिक शब्द आवे वहाँ रात्रिक, पाक्षिक, चौमासिक, सांवत्सरिक, प्रतिक्रमण में अनुक्रम से निम्नलिखित पाठ कहें:—"राइओ", "देवसिओ", "देवसिओ पक्खिओ" "देवसिओ चउमासिओ पक्खिओ", "देवसिओ संवच्छरिओ"—ऐसा कहे।